No - 057660 Lo. 43.15

तीर्थंकर

वर्ष २९ अंक ११ मार्च २००० फाल्गुन-चैत्र २०५६ वी.नि.सं. २५२६

'जैनधर्म क्या है?' – सिर्फ एक वाक्य में

(सर्वेक्षण : जनवरी २००० अंक से आगे)

'जो है, सो है' इसे जानना ही जैनधर्म है।
–प्रवीण छाबड़ा, जयपुर

मानव के प्रति सद्भावना ही जैनधर्म है।
–आलोक काला, जयपुर

वस्तु का स्वभाव ही धर्म – जैनधर्म है।
–श्रीमती पुष्पलता जैन, जयपुर

जीवन जीने की कला ही जैनधर्म है।
–सौ. आशा काला, जयपुर

किसी भी जीव को तन या मन से कष्ट न पहुँचाना जैनधर्म है।
–सौ. सुनीता काला, जयपुर

जैनधर्म प्राणिमात्र को सम्मान से जीने देने की जीवन-पद्धति है।
–अजय काला, जयपुर

अहिंसा-आधारित आत्मा को पवित्र से पवित्रतम बनाने की जीवन-शैली जैनधर्म है।
–पद्मकुमार जैन, अजमेर

अहिंसा का पालन, प्रतिदिन देव-दर्शन, तथा निशिभोजन त्याग जैनधर्म है।
–सौ. कुसुम, अजमेर

समकित (सम्यक्त्व) प्राप्त करना जैनधर्म है।
–मोहनलाल कांकरिया, चैन्नई

प्राणिमात्र के प्रति करुणा की भावना जैनधर्म है।
–दुलीचन्द जैन, चैन्नई

अपनी कषायों को जीतना जैनधर्म है।
–सुरेश कांकरिया, चैन्नई

मानव-जीवन जीने-की-कला का विवरण जैनधर्म है।
–कृष्णचन्द्र चौरड़िया, चैन्नई

जीवों की हिंसा न करना जैनधर्म है।
–सौ. मनीषा, चैन्नई

अहिंसा का प्रसार जैनधर्म है।
–सौ. रेखा, चैन्नई

जैनधर्म वह है जो 'वे ऑफ लिविंग' सिखाता है।
–महावीर चौरड़िया, चैन्नई

अहिंसा परमोधर्मः – जैनधर्म है।
–सुरेन्द्र एस.मेहता, चैन्नई

(शेष पृष्ठ ३१ पर)

तीर्थंकर

विचार-मासिक
सद्विचार की वर्णमाला में
सदाचार का प्रवर्तन

मार्च २०००
वर्ष २९ : अंक ११
फाल्गुन-चैत्र : २०५६

संपादक : डॉ. नेमीचन्द
प्रबन्ध-संपादक : प्रेमचन्द जैन
चित्र-संपादक : विश्वास जैन

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग,
इन्दौर- ४५२ ००१, मध्यप्रदेश

दूरभाष : ५६५२०४; ५६५२७१
फैक्स : ०७३१-५६५३०८

वार्षिक : पचास रुपये
द्विवार्षिक : पिच्यानवे रुपये
आजीवन : पाँच सौ रुपये
प्रस्तुत अंक : पाँच रुपये

नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर-४५२ ००९ द्वारा
हीरा भैया प्रकाशन,
इन्दौर- ४५२ ००१ के लिए मुद्रित

चिन्तन–१४

मैं क्रोध हूँ

मैं क्रोध हूँ। मैं चोर हूँ। मैं डाका डालता हूँ। मैं उन तीन बड़े तस्करों में-से हूँ जो विवेक-धन की तस्करी करते हैं। देह मेरा आवास है। घर-घर में मेरा घर है। मेरे और मेरे हमजोलियों के बारे में विद्वानों ने लिखा है – 'कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः'। मैं लोगों की शान्ति का लुटेरा हूँ। मुझे पहचानिये। मुझसे परिचय कीजिये। मैं बड़े काम की चीज हूँ। मैंने बड़ों-बड़ों को चारों खाने चित्त किया है। मुझ से आज तक कोई बच नहीं पाया है। मैं कालजयी हूँ।

मैं जिसके पीछे पड़ जाता हूँ। उसका नामोनिशाँ मिटा कर ही दम लेता हूँ। मैं बहुरंगी हूँ। लाल-पीला होने में मुझे बहुत अच्छा लगता है। मैं जिसमें दाखिल हो जाता हूँ, वह मेरी संगत में दीवाना हो पड़ता है और अजीबोग़रीब भाषा बोलने लगता है। उसकी रगें तन जाती हैं। मांस-पेशियाँ सिकुड़ जाती हैं। भौंहें तन जाती हैं; आँखें विस्तृत हो पड़ती हैं; नथुने बुरी तरह भभकने लगते हैं; मतलब, मैं आदमी को फिर वह चाहे कितना ही शूरवीर क्यों न हो सिर-से-पैर तक मथ डालता हूँ। उसकी समग्र देह और चर्या में अप्रत्याशित क्रान्ति खड़ी कर देता हूँ।

मैं आता हिरण की रफ्तार से हूँ; लेकिन जाता कछुए की चाल से हूँ। कभी-कभार जब रुक जाता हूँ तब सालों दुबका पड़ा रहता हूँ और मुफ्त की खाता रहता हूँ।

एक बार बड़ा मज़ा आया। वाराणसी की घटना है। एक साधु बाबा गंगा-स्नान के

उपरान्त घाट की सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे। अन्तहीन सघन भीड़ थी। मैंने बहुत कोशिश की कि मैं उन्हें अछूता छोड़ दूँ; लेकिन संभव नहीं हुआ। उन्हीं सीढ़ियों से एक चाण्डाल गुज़र रहा था। मैंने देखा बाबा मुझे बड़े प्यार-प्रीति से बुला रहे हैं। मैं तुरन्त उनमें प्रविष्ट हो गया। मेरे उनमें उतरते ही उन्होंने चाण्डाल को एक पत्थर दे मारा और ऊँची सदर्प आवाज़ में बोले – 'अन्धा हुआ है। देख कर चल। मुझे छू लिया न आखिर। अब मुझे फिर से नहाना पड़ेगा।'

मैं यह सब सुन रहा था। चाण्डाल कह रहा था – 'अपराध हुआ है बाबा, क्षमा करें; लेकिन जहाँ तक नहाने का सवाल है, शायद आपको नहीं, मुझे ही नहाना पड़ेगा'। बाबा ने साश्चर्य पूछा – 'वह कैसे?' चाण्डाल ने विनम्रता से कहा – 'आप कदाचित् नहीं जानते कि दुनिया में मुझसे बड़ा चाण्डाल भी है, जिसे क्रोध कहते हैं। वह तो आपके रोम-रोम में रम गया है। मैं तो एक बार नहा कर पवित्तर हो जाऊँगा; किन्तु आपके शरीर में जितने रोम हैं, जब उतनी बार नहायेंगे तब कहीं आपका उद्धार हो पायेगा।'

बाबा ने मेरी ओर घूर कर देखा और पूछा – 'क्या यह सच है?' मैंने कहा – 'सच ही नहीं – भरपूर सच है; लेकिन अब मैं आपको छोड़ूँगा नहीं। मुझे इससे अधिक आरामदेह जगह और कहाँ मिलेगी?'

क्रोध लुटेरा है। वह घूमता रहता है और अक्सर ऐसे लोगों में जो अहंकार के शिकार होते हैं अपना तम्बू गाड़ लेता है; और फिर आहिस्ता-आहिस्ता वहाँ अपना गगनचुम्बी महल खड़ा कर लेता है।

—अतिप्रज्ञ

क्या / कहाँ

'जैनधर्म क्या है?' – सिर्फ एक वाक्य में (सर्वेक्षण)
—डॉ. नेमीचन्द जैन २

मैं क्रोध हूँ (चिन्तन-१४)
—डॉ. नेमीचन्द जैन ३

भगवान् महावीर का २६००वाँ जन्मोत्सव : चरित्र का प्रश्न
—संपादकीय-१ ५

क्रोध : इसका स्वागत कीजिये; लेकिन बदल डालिये इसे एक रचनात्मक कोशिश में (अनुभव-१०)
—डॉ. नेमीचन्द जैन ७

अहिंसा का ऐसा अप्रतिम सौन्दर्य और कहाँ मिलेगा?
—सुरेश सरल ११

सम्यग्दर्शन : दस रुचियाँ, दस बिम्ब (कविता)
—दिलीप धींग १४

भगवान् महावीर का साधना-मार्ग
—दुलीचन्द जैन १५

ध्यान में शक्ति का रूपान्तरण
—श्रीचन्द्रप्रभ १९

दाह-संस्कार और समाधि-मन्दिर : उभरते प्रश्न
—जे.के. संघवी २१

स्वस्थ, स्वच्छ और स्वाधीन समाज के प्रबल पक्षधर पण्डित सुखदास न्यायतीर्थ
—प्रवीणचन्द्र छाबड़ा २३

जैन साध्वी : नया चेहरा, नये तेवर (सुनिये!)
—संपादकीय-२ २५

समाचार-परिशिष्ट २७

पानी माहिं पतासा (पद)
—भूधरदास ३२

आवरण-चित्र : दक्षिण पावापुरी (तमिलनाडु) की संस्थापिका साध्वी श्री दिव्यसाधनाजी, जो अहिंसा को एक नया आयाम देने में व्यस्त हैं। वे चन्दनबाला की पराक्रमी वंशधर हैं और इक्कीसवीं सदी में जैन साध्वाचार को एक नयी इबारत देने के लिए दृढ़ संकल्पित हैं।

पाठकों से : किन्हीं अनिवार्य कारणों से प्रस्तुत अंक में 'शाकाहार गौरव-यात्रा' (१४, १९ और २१) के वृत्त तथा 'कसौटी' (पुस्तक-समीक्षा) स्तम्भ नहीं दिये जा सके हैं; आशा है हमारे प्रिय पाठक इन्हें अप्रैल अंक में पढ़ सकेंगे। —संपादक

भगवान् महावीर का २६००वाँ जन्मोत्सव : चरित्र का प्रश्न

इक्कीसवीं सदी या तृतीय सहस्राब्दी के आरम्भ में आज फिर हमारे सामने एक ऐसा अप्रतिम अवसर प्रस्तुत हुआ है, जब हम समूचे विश्व को शान्ति, अहिंसा, करुणा और सहअस्तित्व का अमर संदेश दे सकते हैं।

वर्ष १९७५ में भी एक ऐसा ही सुअवसर हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ था – हमने उसका उपयोग भी किया – लेकिन एक सुस्पष्ट आचरण-सिद्ध व्यवहार-नीति के अभाव के कारण हम उस मंज़िल तक नहीं पहुँच सके जो दुनिया के लिए अयुद्ध-मैत्री, अमनोअमान, सुख-समृद्धि और प्रीति-प्रतीति की वजह हो सकती थी।

यह सुखद है, कि जैन समाज ने देश के विभिन्न महानगरों में भगवान् महावीर के छब्बीस सौवें जन्मोत्सव को अधिक सार्थकता, समायोजकता, और फलवत्ता के साथ मनाने का निश्चय किया है। दिल्ली, लुधियाना, अहमदाबाद, बैंगलोर, और चैन्नई से जो समाचार मिले हैं, वे आशास्पद हैं और उनमें उन तमाम स्वच्छ/निर्मल पृष्ठभूमियों की झलक-झाईं है, जिनका खयाल रख कर हम इस मौके को उज्ज्वलतर बना सकते हैं।

उपर्युक्त महानगरों में हुई बैठकों में-से नई दिल्ली में आयोजित बैठक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाएगी; क्योंकि इसमें पिटेपिटाये/परम्परित कार्यक्रमों को दुहराने की अपेक्षा उत्सव-दर्शन (फलसुफे) के कुछ आदर्श निरूपित करने की कोशिश भी की गयी है। सम्मिलित महानुभावों ने अतीत के अनुभवों को ध्यान में रख कर कुछ सबक भी लिये हैं।

सम्मिलितों ने सबसे पहले इस तथ्य को रेखांकित किया है, कि समारोह में भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के अनुरूप ही सबकुछ किया जाए। यह फैसला सुनने, लिखने, पढ़ने, और प्रचारित करने में जितना सरल प्रतीत होता है, इसका मैदानी पहलू उतना ही जटिल, मुश्किल, और कंटकाकीर्ण है।

पहला प्रश्न यह उठता है, कि आज हम जो भी कर रहे हैं क्या वह तमाम भगवान् महावीर के सिद्धान्तों/प्रतिपादनों के अनुरूप है? क्या हम जिस जीवन-शैली को आज अपनाये हुए हैं, वह भगवान् महावीर द्वारा निरूपित उसूलों के अनुसार है? क्या हमने जिन सिद्धान्तों/आदर्शों को भगवान् महावीर के पच्चीस सौवें परिनिर्वाण महोत्सव (१९७५) पर डंके की चोट प्रचारित किया था, उन्हें हम ठीक से अथवा अंशतः जी कर आम जनता के सामने रख पाये हैं? क्या हमने भगवान् महावीर के उन पंचशीलों को ठीक से जिया है, जो जैनाचार की रीढ़ हैं? यदि हम वैसा कुछ कर पाने में विफल रहे हैं, तो हमें सोचना होगा कि कहाँ/कौन-सी ग़लती हुई है, जिसे तुरन्त सुधारने की ज़रूरत है, ताकि हम इस बार उन्हीं उसूलों को अधिक ताक़त और जोश के साथ दुनिया के सामने बतौर मिसाल पेश कर सकें।

तय है, कि हमने जिन कार्यक्रमों का प्रस्ताव किया है, वे २५ वर्ष पूर्व के कार्यक्रमों से भिन्न नहीं हैं; सिर्फ प्रस्तुतीकरण और भाषिक तेवर का बदलाव है; क्योंकि औपचारिक हम तब थे, औपचारिक हम आज हैं; अतः कोई ठोस नतीजा सामने आयेगा इसकी आशा लगभग क्षीण है; अतः जब तक हम उन लोगों को अपने साथ नहीं लेते जो समाज के 'अन्तिम आदमी' हैं, तब तक हम सतह के नीचे गहरे कुछ कर पायेंगे, यह सन्दिग्ध बना रहेगा।

दिल्ली की बैठक में एक बात यह भी उभर कर सामने आयी कि हमें जैन समाज के विभिन्न वर्ग-उपवर्गों की भागीदारी सुनिश्चित करनी चाहिये ताकि एक संतुलित योजना क्षितिज पर आ

सके। दरअसल जब तक हम एक वर्गमुक्त जैन समाज की धारणा को आकृति देने का कोई अविचल संकल्प नहीं करेंगे और टुकड़ों की ज़िन्दगी जीते रहेंगे, तब तक विभक्त मन-वचन से किये गये कामों का कोई परिणाम; परिपक्व चेहरा सामने नहीं आ सकेगा। यहाँ 'वर्ग-मुक्त जैन समाज' से हमारा तात्पर्य उस समाज से है, जो जैन धर्म और दर्शन के सार्वभौम सिद्धान्तों में सुदृढ़/अपरिकम्प आस्था रखता हो और छोटे-मोटे व्यावहारिक भेदों/फर्कों को अर्थहीन मानता हो। इस स्वच्छ/सकारात्मक मानसिकता के साथ हम निश्चय ही एक बहुत सुखद और प्रभावी योजना तैयार कर सकते हैं और अपनी सार्वभौम अस्मिता को शिल्पित कर सकते हैं। अभी तरुणों, सुशिक्षितों और विदेश-में-रह-रहे जैनों में जो स्वच्छ/ तेजस्विनी मानसिकता है उस पर भारतीय जैनों का ध्यान शायद नहीं गया है; क्योंकि वस्तुतः असली मानसिकता यही है, जिसने संकीर्णताओं/तंगदिलियों को निकाल फेंका है और भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के नवनीत को चक्खा है। क्या हम ऐसी किसी प्रांजल/स्वच्छ मनःस्थिति को, बगैर वक़्त खोये, अभिनन्दित कर पायेंगे?

इसी बैठक में समाज के निःस्वार्थ सेवाभावी कार्यकर्ताओं को महत्त्व देने का मुद्दा भी उठा। यथार्थतः यह एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है; क्योंकि देश में ऐसे निष्काम समाजसेवियों की संख्या कम नहीं है, लेकिन एक निर्विवाद/सुस्पष्ट नेतृत्व के अभाव में हम इन कार्यकर्ताओं की शक़्ल-शक्ति को पहचान नहीं पा रहे हैं, और उन्हें उपेक्षित, लभगभ अपमानित, रखे हुए हैं; अतः जब तक हम इन कार्यकर्ताओं को ठीक से चिह्नांकित नहीं करेंगे और उनके प्रति सार्वजनिक बहुमान उत्पन्न नहीं करेंगे, हमारे आयोजन बेपानी/बेनूर रहेंगे; उनमें जीवन्तता नहीं आयेगी।

इसी बैठक में एक स्वर यह उठा, कि हमें ध्यान रखना होगा कि हम इस समारोह के लिए जिस समिति का गठन करें उसके पदाधिकारियों का जीवन जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से संगति रखता हो – उनकी सीध में हो। हमारे मत में यदि इस कसौटी को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है, तो जिस जन्मोत्सव की परिकल्पना हम कर रहे हैं, वह सौ फीसदी सफल हो सकता है। किसी भी कार्यक्रम, समारोह, अथवा योजना की सफलता का मुख्य आधार उसे क्रियान्वित करने वाले लोगों के चरित्र पर निर्भर करता है। यह बुनियाद जितनी पुख्ता और सुदृढ़ होगी, सफलताएँ भी उतनी ही ठोस और सुनिश्चित होंगी। इसमें भला कौन-सी तुक है, कि जो लोग सरकार से, या दुनिया से यह माँग करते हों कि 'वर्ष २००१' को 'अहिंसा वर्ष' घोषित किया जाए और उनकी अपनी ज़िन्दगी का अधिकांश भाग हिंसक/अनीतिपूर्ण हो; उनके जीवन, सार्वजनिक/वैयक्तिक, में अहिंसा का कहीं नामोनिशाँ न हो। यह तो लगभग ऐसा ही होगा जैसे हम 'मांस-निर्यात' का तो विरोध करें और खुद चमड़े का व्यापक/निःसंकोच इस्तेमाल करें। हमें इस तरह के अन्तर्विरोधों से ऊपर उठ कर ही प्रस्तावित समारोह की बागडोर किसी स्वच्छ, निर्मल, और अन्तर्विरोध-मुक्त नेतृत्व को सौंपनी होगी।

न्यायमूर्ति श्री भाचावत ने इस बैठक में जो बात कही है, वह काफी महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने कहा है, कि हमें एकता, सात्त्विक जीवन-शैली, और निष्पक्ष आचरण पर ज़ोर देना चाहिये। एकता, सात्त्विकता और निष्पक्षता के त्रिभुज के बीच यदि हम यह समारोह संपन्न करते हैं तो निश्चय ही देश-दुनिया के सामने हम एक 'न भूतो न भविष्यति' जैसा क्षेत्र कालातीत उदाहरण प्रस्तुत कर सकेंगे अन्यथा हमें कहना होगा कि हम भगवान् महावीर के सिद्धान्तों को जगत् को न बतायें यही अच्छा है; क्योंकि दुनिया उलट कर इन्हीं सिद्धान्तों की कसौटियों पर जैनों को कसेगी और तब फिर हताशा के अलावा हमारी मुट्ठी में कुछ नहीं होगा; क्योंकि आज जो जैन चरित्र है उसमें-से कोई सफलता उभर कर सामने आयेगी – आ सकेगी, यह सन्दिग्ध है।

क्रोध : इसका स्वागत कीजिये; लेकिन बदल डालिये इसे एक रचनात्मक कोशिश में

आप शायद नहीं जानते – कदाचित् जानने की कोशिश भी नहीं करते – कि क्रोध की फ़ितरत है कि वह व्यक्ति पर क़ाबिज़ हो जाता है – लगातार होता जाता है; लेकिन ऐसे अवसर दुर्लभ/नगण्य होते हैं जब व्यक्ति क्रोध पर क़ाबिज़ होने में कामयाब होता है। सिलसिला मुश्किल और दुस्सह है; क़दम-क़दम पर बाधित है; लेकिन कोशिश पर कोई रास्ता निकल सकता है।

मुश्किल यह सब भले ही लगता हो, असंभव बहरहाल नहीं है। **मनुष्य की सबमें बड़ी विशेषता है उसकी अपराजिता कोशिश।** उसकी यह तमाम तरक़्क़ी जो दीख पड़ती है न, यह उसकी अनथक कोशिश का ही सुफल है; इसलिए **यदि हम कोशिश करें तो गुस्से को गुस्ल में भेज सकते हैं, उसे फव्वारा-स्नान दे सकते हैं, उसे ठण्डा कर सकते हैं; उसका रूपान्तरण कर सकते हैं – उसे अपना अज़ीज़ बना सकते हैं।**

जैन शब्दावली में जिसे कषाय कहते हैं, वह बड़ी खतरनाक चीज है। वह व्यक्ति के आचरण में कब और कहाँ से सैंध लगा बैठे, इसका अन्दाज़ बहुत कठिन है। **कषाय का अस्तित्व बहुत महीन है। जहाँ सूरज की किरण या कवि की कल्पना पहुँच पाने में असमर्थ होती है, कषाय वहाँ बड़ी तरक़ीब से अपनी पगडंडी बना लेती है। कषाय की धार इतनी प्रखर/तेज़-तल्ख होती है कि वह कठोरतम विघ्न को भी काट लेती है।** कषाय क्रोध, मान, माया लोभ इन चौर लुभावनी शक़्लों में, अलग-अलग छवियों में हमला करती है। कषाय-चौकड़ी (कॉकस) का सरगना है क्रोध; मान, माया, लोभ सब उसके आदेश पर चलते हैं।

मान, माया और लोभ की तिकड़ी जुड़ कर, या जुदा-जुदा, क्रोध की वजह बनती है। धन, ज्ञान, रूप, ताक़त इत्यादि का मिथ्याभिमान हमें दूसरों से अलग करता है। धन-दौलत के क्रमशः या अकस्मात् आ जाने पर आदमी का सर चकरा जाता है। उसे लगने लगता है कि वह अद्वितीय है; पूरे जहान में, उसकी तुलना में, कहीं कोई नहीं है; ऐसे में उसे यदि कोई तुल्य/समान दीख पड़ता है, तो वह भभक पड़ता है और क्रोध उस पर क़ाबिज़ हो जाता है।

मद अर्थात् मान। मद यानी सुरा-शराब। मद यानी नशा-उन्माद। यह आया, कि आदमी पतनोन्मुख हुआ; इसलिए **'मान' को 'ईमान' में बदलने की कोशिश करनी चाहिये ताकि हम अपने भीतर अच्छाइयों का जो खज़ाना सुस्त पड़ा है – अलभ्य कोषागार, जिसकी जानकारी हमें नहीं है, लेकिन जो हममें-से हरेक में है, हमारे हाथ लग सके और हम मालामाल हो सकें।**

लेकिन मान को ईमान या दूसरों के प्रति सम्मान में बदलना कोई आसान काम नहीं है। ज़्यादातर हमारे भीतर जो अहम् की आग प्रतिपल धधकती रहती है, वह

मान को रूपान्तरण की दिशा में प्रवृत्त होने से रोकती है। मान की आँखों पर माया और लोभ की काली पट्टियाँ बँधी रहती हैं। मान अन्धा होता है। उसे स्वार्थ के अलावा अन्य कुछ सूझता ही नहीं है। उसके ज़र्रे-ज़र्रे में खुदगर्ज़ियत धड़कती है; इसलिए बड़ा ज़रूरी है कि मान को ईमान और विनय में रूपान्तरित किया जाए।

जिसके भीतर मान-के-शेषनाग ने हार कर अपना फन पटक दिया है, जिसने उसके विषदन्त को विनम्रता, सरलता, और सादगी के जरिये उखाड़ फेंका है, उसका कोई मुक़ाबला नहीं है, वह बेजोड़ है।

मान ने अपना असबाब समेट लिया है और वह आपसे अलबिदा ले रहा है, इसकी सूचना समत्व की भावना के उद्भव से मिलती है। **'मान-शून्य' होना शायद संभव न भी हो, लेकिन 'मान-न्यून' होना पूरी तरह मुमकिन है।** अंगद के पाँव की भाँति अविचल जमे मान को क्रमशः ही हिलाया जा सकता है – उसे जड़-मूल से खोद फेंका जा सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है; लेकिन इसके लिए अभीक्ष्ण साधना/पुरुषार्थ चाहिये। समता का भाव जैसे ही व्यक्ति में प्रकट होता है; मान, दंभ, गर्व, मद, अभिमान, अहंकार इत्यादि खुद-ब-खुद दुम दबा कर भाग खड़े होते हैं। **जो मान को स-सम्मान सिंहासन से उतारने की कला जानते हैं; वे अप्रतिम-अद्वितीय होते हैं, उन्हें हराना लगभग असंभव होता है; लेकिन इस कला में पारंगत होना** एक **दुर्द्धर तप है, जिसे क्रमशः और सावधानी से करना चाहिये।**

मान बड़ा बेईमान होता है। वह कब धोखा देगा, कोई नहीं जानता। वह कब और कहाँ से आ टपकेगा, इसका भी कोई निश्चय नहीं है। इससे तो वे ही निबट सकते हैं, जिनके पास ऋजुता, अनुकम्पा, करुणा, समवेदना, और सहानुभूंति की दूर(खुर्द)बीनें हैं, जिनके जरिये वे उसकी बहुविध शक़्लों को देखने में सफल होते हैं और ज्ञान के प्रखर हथियार से उसे अस्तित्व-शेष करते हैं। वस्तुतः ज्ञान से बड़ा अन्य कोई अहेतुक निष्काम उपकारी मित्र नहीं है।

क्रोध के साथ जिस तिकड़ी का कठोर/अनुलंघ्य अनुबन्ध है, उसमें दूसरे क्रम पर है माया। माया की माया लोकविश्रुत है। उसे कौन नहीं जानता? वह ब्रह्माण्डव्यापी है। उससे आज तक कोई बच नहीं पाया है। साधु-संतों, ऋषि-महर्षियों की कोशिश रही है कि उससे फासला बनाये रखें; लेकिन सबको सफलता नहीं मिल सकी है – नहीं मिलती। माया अर्थात् मोह-मूर्च्छा – वस्तुओं/ व्यक्तियों से प्राणाधिक प्रगाढ़ लगाव।

माया के उपरान्त लोभ का नम्बर है। उसे पाप-का-बाप निरूपित किया गया है। वह चक्रवात की तरह आता है और क्षणांश में सबकुछ ध्वस्त/धराशायी कर जाता है। लगता है, उसके साथ, कि हमने प्रभूत समेटा है, लेकिन होता इसका उल्टा ही है; लोभ हमें, हमारी भीतरी ताक़त को पूरी तरह समेट कर भाग जाता है और हम हतबुद्धि अवाक् खड़े रह जाते हैं। लोभ का कोई अन्त भी नहीं है। वह शुरू हुआ कि हुआ, फिर उसका ख़त्म होना या उसे ख़त्म करना मुश्किल होता है। वह आकाश की तरह अनन्त है। मृगमरीचिका की उपमा उसका सर्वोत्तम खुलासा है। जैसे रेगिस्तान

में हिरण को जल-की-भ्रान्ति होती है और वह अपनी प्यास बुझाने के लिए भटकता है; ठीक वैसे ही व्यक्ति को लोभ में-से तृप्ति-की-भ्रान्ति होती है और वह लक्ष्यहीन, पागल की तरह भागदौड़ करता है।

लोभ में-से मनुष्य को मिलता कुछ भी नहीं है; बल्कि जो गाँठ में होता है, वह भी निकल भागता है। लोभ एक तरह से व्यर्थ का अर्थ या वस्तु संचय है। संचय अवश्य है; लेकिन उसकी पृष्ठभूमि पर उज्ज्वल विवेक-संपन्न भोग नहीं है। लोभ में फँसा-धँसा आदमी आठों याम मौत के मुँह में कच्चे तागे से बँधा लटका रहता है। **लोभी को सुख कभी नहीं मिलता, जो मिलता है वह मात्र सुखाभास होता है।** इस तरह यह चौकड़ी ऊर्जा तो उत्सर्जित करती है; लेकिन उसे रचना की ओर न मोड़ कर विनाश और विध्वंस की ओर प्रवृत्त रखती है।

सवाल पहचान का है। हमें देखना है कि ऊर्जा का जो सांयोगिक प्रवाह चेतना पर घुमड़ता है, हम उसके हाथ बिक जाते हैं, उसके अधीन हो पड़ते हैं या उसे खरीदते हैं और उसे अपने अधीन करने में सफल होते हैं? क्रोध, मान, माया,लोभ से विस्फोटित शक्ति-प्रवाह में-से जो प्रकट होता है, वह अद्‌भुत-अपूर्व होता है, प्रश्न सिर्फ उस पर स्वामित्व पाने का है और उसे सृजन के साँचे में ढाल कर लोकमंगल की दिशा में डालने का है।

मसलन, परमाणु में अपरिसीम ऊर्जा है; उसके विखण्डन में-से वैज्ञानिक जो ऊर्जा उत्पन्न करते हैं, वह शस्त्रास्त्र बनाने के काम भी आ सकती है और मानव-समाज की सुख-शान्ति का अमोघ स्रोत भी बन सकती है; प्रश्न मात्र नीयत का है कि निष्पन्न हथियार, औजार या उपकरण जिसके अधिकार में है, वह उसका गुलाम बनता है या उसे अपने वशीभूत रखता है? जिस तरह परमाणुगत ऊर्जा की नियति है, ठीक वैसी ही नियति कषाय की है। हम यदि चाहें तो कषाय-निःसृत ऊर्जा को रचनात्मक क्षेत्र देने की कोशिश कर सकते हैं। **व्यक्ति हो या समूह जो ऊर्जा उसमें-से निष्पन्न होती है, उसमें-से मंगल या अमंगल दोनों ही घटित हो सकते हैं।**

आन्दोलन, असंतोष, आक्रोश, विद्रोह, धरना, हड़ताल, बंद इत्यादि सामाजिक क्रोध की ही शक़्लें हैं। यदि इन्हें ठीक से समझा जाए, तो इनमें धड़कती अपरंपार लोक-शक्ति को जन-मंगल में रूपान्तरित किया जा सकता है।

जिस तरह आत्मबल व्यक्तिगत ऊर्जा को रूपान्तरित करता है और उसे आत्मोन्नयन की दिशा में डालता है, ठीक वैसे ही एक अनुभवी नेतृत्व लोक-बल को एक सुयोग्य दिशा प्रदान कर सकता है, और उसमें-से सार्वजनिक/सार्वभौम सुख-समृद्धि को प्रवर्तित करता है। प्रश्न सम्यक् नेतृत्व और दिशा-निर्धारण का है; चूक इसी संवेदनशील बिन्दु पर होती है।

क्रोध – व्यक्तिगत अथवा सामाजिक – अनिवार्यतः जनमता है; लेकिन उसकी सम्यक् पहचान बनने पर ही धैर्यपूर्वक उसे एक मृदु-मनोज्ञ रचनात्मकता में रूपान्तरित करना संभव है। **मैंने कई बार अत्यन्त क्रोधी व्यक्ति को ग़ज़ब का लोकहित कार्य**

करते देखा है। वह ताक़त, जो हिंसा, क्रूरता, विनाश, क्लेश, कटु संघर्ष में व्यर्थ ही व्यय हो जाती है, वही उसकी ठीक-ठीक पहचान बनने और सही दिशा में प्रवृत्त होने पर सृजन – अपूर्व सृजन, में बदल सकती है। बड़ी-से-बड़ी हिंसक भीड़ को जब सही-संतुलित नेतृत्व ने अपने अनुशासन में ले लिया है, तब कई देश आज़ाद हुए हैं और कई अन्धी सामाजिक रूढ़ियों का ख़ात्मा हुआ है, अर्थात् यदि व्यक्ति अथवा समूह की विकृतियों की ओर दौड़ती चुम्बकीय ऊर्जा को नियन्त्रित किया जाए तो उसमें-से विलक्षण सृजन-शक्ति को निष्पन्न किया जा सकता है।

यह मान कर चलना, कि विकृतियों-की-राह-भागती ऊर्जा को सही मोड़ नहीं दिया जा सकता, मनुष्य के पुरुषार्थ और उसकी प्रतिभा का तिरस्कार है; अतः हमें इतिहास का सिन्धु-मन्थन करना चाहिये और देखना चाहिये कि कलिंग-युद्ध या भरत-बाहुबली के द्वन्द्व-युद्ध में-से कौन-सी ऊर्जाएँ उद्‌भूत हुई थीं? कलिंग-युद्ध में-से सम्राट् अशोक के अंतरंग में जो रचनात्मक भूचाल आया था, उसने विश्व को जो दिया, उससे शायद ही कोई अपरिचित हो। युद्ध या संघर्ष चाहे जो, जैसा हो, उसके अन्तिम सिरे पर जो अमृतघट प्रच्छन्नतः रखा होता है, वह अद्‌भुत-अपूर्व होता है।

जिस तरह क्रोध के अवसान पर क्रोधी का ज़हर अमृत के अनन्त प्रवाह में बदलने लगता है, ठीक वैसे ही सामुदायिक कोप का भी उपयोगपरक रूपान्तरण होता है – हो सकता है।

जिसे हम अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं, वह भी ऊर्जा की एक ऐसी छवि है जो कई बार कोई नहर ढूँढ़ रही होती है। सही राह मिलने पर अन्तर्द्वन्द्वमूलक ऊर्जा व्यक्ति या लोक-मंगल की आकृति ग्रहण कर लेती है और ग़लत सड़क मिलने पर वही विनाश की शक़्ल लेने पर विवश होती है।

एक रहस्य ज्ञातव्य है; वह यह कि प्रत्येक व्यक्ति या समूह में विकृत शक्ति-प्रवाह को रचनात्मक दिशा में प्रवृत्त करने की क्षमता होती है; लेकिन अक्सर वह उसकी पहचान बनाने और उसके इस्तेमाल करने के क्षण चूक जाता है।

यदि हमारे क्रोध, मान, माया, और लोभ के विष को उसकी पराकाष्ठा पर पकड़ा जाए तो वापसी में हमें जो मिलेगा, वह अप्रतिम होगा। यदि हम क्षमा से स्वयं को लैस कर लें; यदि हम सहिष्णुता का अभेद्य कवच धारण कर लें; **यदि हम मैत्री को अपना अंग-रक्षक नियुक्त कर लें; यदि हम अपनी स्वार्थान्धता को निष्कामता/प्रीति-प्रेम की आधार-भूमि प्रदान कर सकें तो कषाय-चौकड़ी-जनित अदृप्त ऊर्जा को लोक-मंगल की दिशा में सरलता से जोता जा सकता है** – सवाल सिर्फ उस ईमानदार कोशिश का है, जिसे आवेश और उत्तेजन के दौरान या तो कोई कहीं से हममें उँड़ेल दे या हम अपने आचरण में उसे इस तरह घोलने का प्रयास करें कि जब भी इन चारों में-से कोई आये तब हम उस सृजन-संयुक्त क्षण को पहचान कर उसका सार्थक उपयोग कर सकें।

–क्रमशः

अहिंसा का ऐसा अप्रतिम सौन्दर्य और कहाँ मिलेगा?

सुरेश सरल

भगवान् महावीर ने सोलह वर्षों का अनवरत विहार किया, तप किया, स्वाध्याय किया, तब निजानुभव प्राप्त कर कहा– 'अहिंसा परमो धर्मः'। जिसे महावीर ने परम धर्म बतलाया था, उसे तब से अब तक हर अनुवर्ती ने अपने सम्पूर्ण विवेक से स्वीकार भी किया है, आचरण में भी उतारा है, और उससे उद्देश्यों की प्राप्ति भी की है तथा अहिंसा-धर्म-के-मर्म को जन-जन तक पहुँचाया भी है। विश्व का यह पहला धर्म है जो पूर्ण सक्षम, समृद्ध और सबल है। अहिंसा की शक्ति से अनेक कार्य किये जा चुके हैं, इतिहास गवाह है, उनमें सबसे बड़ा कार्य कहा जाएगा – भारत को गुलामी से मुक्त करा देना। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पार्श्व में मात्र अहिंसा थी। अहिंसा-प्रसूत एकता और एकता-जन्य शक्ति।

लेख शुरू करने के पूर्व एक छोटा-सा वृत्तान्त है यहाँ। हुआ यह कि उस मोहल्ले में एक त्यागीजी रहते हैं। उन्होंने अनेक प्रकार के त्याग किये हैं; इसलिए लोग उन्हें त्यागीजी कहने लगे हैं। लिखने-पढ़ने में काफी समय देते हैं। घंटों ध्यान और चिन्तन करते हैं। प्रवचन भी।

एक दिन उन्होंने भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित पाँच महाव्रतों पर पृथक्-पृथक् लेख लिखने का मन बनाया। विषय थे – सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य। सबसे पहले उन्होंने 'अहिंसा' पर लिखना विचारा। कक्ष में थोड़ा-सा प्रकाश कर क़लम चलाना चाही, पर सोचते रह गये, लिख न सके। उनका प्रथम सोच था– रात्रि में लेखन हेतु प्रकाश किया है जो अहिंसा की राह में प्रथम त्रुटि है।

फिर उन्हें अपने दिन-भर के कृतकार्य याद आने लगे, अतः अधर 'आलोचना-पाठ' की पंक्तियाँ गुनगुनाने लगे–

हा हा! मैं दुठ अपराधी, त्रसजीवन-राशि विराधी।
थावर की जतन न कीनी, उर में करुना नहीं लीनी।
पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागाँ चिनाई....

त्यागीजी का मस्तिष्क भारी हो पड़ा, सोचना रोक दिया, लिखना तो हो ही न पाया, सो लाइट बन्द करते ही उनका मन कह उठा–

दिन रात शुभाशुभ भावों से, मेरा व्यापार चला करता।
मानस वाणी अरु काया से, आस्रव का द्वार खुला करता।।

स्तवन कहते-कहते आँख लग गयी; रात काफी हो चुकी थी, सो गये।

वे तो सो गये, पर मैं जागा रहा। मुझे विश्वास था, कि जिसने अहिंसा महाव्रत साध लिया, उसने सब कुछ सँवार लेने की भूमिका प्राप्त कर ली, मगर जो 'अहिंसा' के नाम पर सो जाता है, वह पश्चात्ताप करने के बाद भी सोता ही रहेगा।

मुझे अहिंसा पर लिखने का मन हुआ, मैंने कलम उठरयी और···। रात्रि के सभी घंटे समर्पित हो गये, तब, हुआ इस लेख का जन्म–

यदि संसार के समस्त धर्मों का गुणानुवाद किया जाए या धर्म-मंथन किया जाए तो पायेंगे कि हरेक धर्म के सिरहाने अहिंसा को रखा गया है। कहें, धर्म के कलेवर में अहिंसा उसका मस्तिष्क है। हर धर्म में अहिंसा है, और यहाँ-वहाँ नहीं है, सर्वोपरि है। वह धर्म का हार्द भी है और धर्म का प्राण भी।

तो फिर अहिंसा का प्राण क्या है? अहिंसा का एक प्राण नहीं है, उसके तीन प्राण हैं– प्रेम, वात्सल्य, और क्षमा। तात्पर्य यह कि जिस हृदय में उक्त तीन तत्त्वों की त्रिवेणी होगी, वहीं अहिंसा का जन्म होगा, वहीं अहिंसा पलेगी, पुसेगी, और पुजेगी। चाहे वह दिल हो भिखारी का, भिक्षु का, या सर्वसंतोषी कहे जाने वाले साधु का।

भगवान् महावीर ने सोलह वर्षों का अनवरत विहार किया, तप किया, स्वाध्याय किया, तब निजानुभव प्राप्त कर कहा– 'अहिंसा परमो धर्मः'। जिसे महावीर ने परम धर्म बतलाया था, उसे तब से अब तक हर अनुवर्ती ने अपने सम्पूर्ण विवेक से स्वीकार भी किया है, आचरण में भी उतारा है, और उससे उद्देश्यों की प्राप्ति भी की है तथा अहिंसा-धर्म-के-मर्म को जन-जन तक पहुँचाया भी है। विश्व का यह पहला धर्म है जो पूर्ण सक्षम, समृद्ध और सबल है। अहिंसा की शक्ति से अनेक कार्य किये जा चुके हैं, इतिहास गवाह है, उनमें सबसे बड़ा कार्य कहा जाएगा – भारत को गुलामी से मुक्त करा देना। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पार्श्व में मात्र अहिंसा थी। अहिंसा-प्रसूत एकता और एकता-जन्य शक्ति।

तब लगा महावीर की अहिंसा को महात्मा गाँधी ने गहराई से समझा था, फलतः उसके प्रकाश से वे गुलामी का अन्धकार हटा सके थे।

वर्तमान परिवेश में विश्व के हर देश को अहिंसा की महती ज़रूरत है। गाँधीजी की तरह ही ज़रूरत है; पर हर देश क्या, किसी एक देश के पास भी गाँधी-जैसा मज़बूत इरादों वाला इंसान नहीं है। उन-जैसा लंगोटी वाला दूरदर्शी व्यक्ति नहीं है; इसीलिए कहें, अहिंसा मन में होते हुए भी कार्यों में, या आचरण और चरित्र में नहीं आ पा रही है।

महात्मा चला गया, क्षुद्रात्मा बच गया; अतः अहिंसा धर्म का परिपालन नहीं हो पा रहा है, जो अहिंसा जीवमात्र के लिए कवच है, रक्षक है, आज हम उसी की रक्षा नहीं कर पा रहे हैं; क्योंकि हम हर डगर और हर दरवाज़े पर अहिंसक नहीं रह गये हैं। अहिंसा की जय अवश्य बोलते हैं; किन्तु उसकी राह चलते नहीं हैं। रोज़-रोज़ हिंसा करते हैं। प्राणियों को मार कर की जाने वाली हिंसा तो है ही, हम वह करते हैं जिसे कोई देख नहीं पाता, बस उसके परिणाम बेचारे लोग भोगते रहते हैं। हाँ, हम दिन-रात 'भाव-हिंसा' कर रहे हैं। हमारा रूप चाहे जो हो, नेता, व्यापारी, अधिकारी, कृषक, कर्मचारी या मात्र नागरिक/श्रावक का। हम करते वही हैं, जिससे

'हमें' लाभ हो, सुख-सुविधा हो। 'अन्यों' का कुछ भी हो, हमें परवाह नहीं रह गयी है।

आजकल की भाषा में इसे 'दिस इज योर प्रॉब्लेम, नॉट माइन' कहा जाने लगा है। वे कौन लोग थे, जो किसी एक की प्रॉब्लेम (समस्या, कष्ट) को 'अपना' मान कर आवश्यक सहयोग करते थे। अब 'नॉट माइन' कह कर कन्धे उचकाने वाला स्वार्थी आदमी हर जगह मिल जाता है। 'नॉट माइन' (वह मेरी प्रॉब्लेम नहीं है) कहने वाले ही सबसे बड़े हिंसक, स्वार्थी और विश्वासघाती होते हैं, उन्हीं से देश-विदेश का समाज भर गया है, अतः अब अहिंसा के आँगन में दीप जलाने का समय किसे रहेगा? सभी तो माया-में-सने उद्देश्यों और महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति हेतु अपने ही नज़दीकी की आस्तीन में निवास करने लगे हैं।

आशा है तो भारत के उन कुछ श्रावकों से, जो आज भी कहीं उपेक्षित रह कर जी रहे हैं और अपनी ही राह पर काँटे डालने वाले के 'शुभम्' की कामना कर रहे हैं। 'शुभेच्छु' वे इसलिए नहीं, कि कमज़ोर या साधनहीन हैं; बल्कि इसलिए हैं कि वे धर्म-के-मर्म को समय-रहते समझ गये हैं। वे मेले-ठेले के समय लगायी गयी प्रदर्शनी में प्रदर्शित किये जाने वाले धर्म के ठेकेदार नहीं हैं, वे तो सामान्य भवन के नीरव कक्ष में बैठ कर विचार करने वाले सद्गृहस्थ हैं। दो घंटे तक सारे मन्दिर में शोर फैला कर पूजा करने वाले श्रावक नहीं हैं; बल्कि मन्दिर से लौट कर घर की शान्त बैठक में ग्रन्थ पढ़ने वाले ठोस धार्मिक जन हैं। यह पृथक् बात है कि कमज़ोर मन-मस्तिष्क वाले जन जीवन-भर यही नहीं समझ पाते कि वास्तव में धार्मिक कौन होता है?

तो मैं उन उपेक्षित; किन्तु शान्त श्रावकों की बात कर रहा था, जो एक घर, एक समाज और एक देश में बमुश्किल पाँच प्रतिशत होते हैं; और इसी पाँच प्रतिशत के पुण्य-प्रताप से अहिंसा का प्रकाश बना रहता है, शेष तो हिंसा-तम फैला कर ही मरते हैं। तम यानी पाप, याने हिंसा-सहित सातों व्यसन।

मगर हमें घबराना नहीं चाहिये, न ही हतोत्साहित होना चाहिये; क्योंकि वे पाँच पुण्यात्मा सदा मानवता की रक्षा करते रहेंगे, उनकी शक्ति शेष ९५ से अधिक आँकी जाएगी। मेरे कथन पर भरोसा करें, १० फुट लम्बे-चौड़े कमरे का अँधेरा, चार इंच चौड़ा दीया (दीपक) समाप्त कर देता है, तो ९५ धर्म-शून्य हिंसक लोगों की मनःकालिमा मात्र पाँच लोग, एक दिन, धो डालने में अवश्य सफल होंगे। समय चाहे जितना लगे, संसार में अहिंसा का विरद सीमान्त तक प्रसार अवश्य पायेगा। अहिंसा ही विजयी होगी। अहिंसा ही पुजेगी, अहिंसा का राज चलेगा।

आप पूछेंगे– 'कब आयेगा वह समय?' मेरा उत्तर है – 'समय नहीं, लोग। वे लोग जो आत्मा-के-आँगन में अहिंसा का दीपक बाल की जीते हैं, वे, आयेंगे। भले ही भविष्य में उनका नाम कुछ और हो, महावीर, गौतम, राम या गाँधी न भी हो, पर वे आयेंगे। नये नाम के साथ आयेंगे और अहिंसा-के-सौन्दर्य से दिशाएँ ओत-प्रोत कर देंगे। ☐☐

दिलीप धींग

सम्यग्दर्शन
दस रुचियाँ दस बिम्ब

निसर्ग

पुण्डरीक यह शुभ्र उजला।
सहज आपो-आप खिला।

अधिगम

भटक रहा था, थका-हारा।
राह दिखायी, ऋणी तुम्हारा।

आज्ञा

हो नहीं कभी विराधना।
तुम्हारे संकेत, मेरी साधना।

सूत्र

अक्षर-अक्षर अक्षर है।
परमाणु-वेधक यह शर है।

बीज

व्यर्थ जाने कहाँ खो गया।
पाया थोड़ा, बहुत हो गया।

अभिगम

अथाह समुद्र, अनन्त आकाश।
पा लूँ सबको, मेरी आस।

विस्तार

अल्प ज्ञात, अज्ञात अनन्त।
ग्रन्थ सीमित, असीम निर्ग्रन्थ।

क्रिया

अर्थपूर्ण हों सब उपक्रम।
सम्यक् श्रम का अप्रमत्त क्रम।

संक्षेप

पथ सुपथ है, मुझे होश है।
चल रहा हूँ, आत्म-तोष है।

धर्म

अश्रुत श्रुत, महा-अणुव्रत।
रत्नत्रय में होना है रत।।

एक शीघ्रतर, एक सरलतर।
चुनें उसे जो लगे श्रेष्ठतर।।

भगवान् महावीर का साधना-मार्ग

दुलीचन्द जैन

श्रमण भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्षों तक आत्मा की दिव्य साधना की। सुख, समृद्धि एवं वैभवगत आसक्तियों को त्याग कर अकिंचन बन वे सत्य-की-साधना में निरन्तर लीन रहे। उनका दिव्य एवं भव्य संयमी जीवन साधनामय जीवन का उत्कृष्टतम उदाहरण है। इस जीवन का प्रत्येक पृष्ठ समता, सहिष्णुता, परदुःख-कातरता, त्याग, तपस्या, ध्यान और अभय की भावना से ओतप्रोत था। उन्होंने यह दीर्घ साधना-काल मौन, आत्म-चिन्तन, आत्म-पर्यालोचन, उग्र ध्यान एवं उत्कट संयम की आराधना में व्यतीत किया।

इस साधना-काल में उन पर अनेक विपत्तियाँ आयीं, उपसर्ग आये। प्राकृतिक, मानवीय तथा दैवी संकटों के प्राणघातक तूफान प्रलयकाल की तरह घिर-घिर कर आये पर वर्द्धमान ने अदम्य साहस, अपराजेय संकल्प एवं आत्म-बल के सहारे उनका डट कर मुकाबला किया।

त्याग और तपस्या की साधना का इस प्रकार का आदर्श मानव-समाज में अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उनके संबन्ध में शास्त्रों में कहा है– **उग्गं च तवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स** (आ.नि. २४०) अर्थात् तीर्थंकरों की अपेक्षा वर्द्धमान का तप विशेष उग्र था।

उनके साधना-काल का रोमांचकारी वर्णन आचारांग सूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध के नवम् अध्ययन में मिलता है। गणधर सुधर्मा स्वामी ने उनकी साढ़े बारह वर्ष की साधना-चर्या का बड़ा सजीव, रसप्रद, और हृदयस्पर्शी वर्णन प्रस्तुत किया है। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर उनकी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्याग के कठिन नियमों का परिपालन, अनुकूल-प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समभाव, निःस्पृहता, शारीरिक अनासक्ति, अविचल ध्यान-योग और अन्तर्लीनता मुखरित है। उस साधना-चर्या का कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत है।

अचेलक अणगार : दीक्षा लेने के समय महावीर के शरीर पर एक श्वेत वस्त्र (देव दूष्य) था। तेरह महिनों बाद अचेल परिषह के आमन्त्रण रूप में उन्होंने उसे भी त्याग दिया। सर्दी, गर्मी एवं वर्षा के सभी कष्टों को उन्होंने सहन किया। भयंकर सर्दी में भी वे खुले में ही ध्यान करते थे।

अनिकेत चर्या : महावीर कभी निर्जन झोपड़ी, धर्मशाला, प्याऊ, लुहार की शाला में रहते; कभी मालियों के घरों में, कभी शहर में, कभी श्मशान में रहते; तो कभी उद्यान या सूने घर में, या वृक्ष के नीचे रात्रि बिताते। ऐसे स्थानों पर रहते हुए वर्द्धमान को नाना प्रकार के उपसर्गों का सामना करना पड़ा। सर्प आदि जीव-जन्तु उन्हें डस जाते, गिद्ध जैसे पक्षी उन्हें काट खाते। दुराचारी मनुष्य उन्हें यातना देते, दुराचारिणी स्त्रियाँ उन्हें काम-भोगों के लिए सतातीं। जार पुरुष उन्हें मारते-पीटते, पर वे समाधि में ही तल्लीन रहते तथा वहाँ से चले जाने को कहने पर अन्यत्र चल जाते।

साधना-काल का आहार : उनके भोजन के नियम बड़े कठोर थे। निरोग होते हुए भी वे मिताहारी तथा खानपान में संयमी थे। मान-अपमान में समभाव रखते हुए वे भिक्षाचर्या करते थे तथा कभी दीनभाव नहीं दिखाते थे। भिक्षा में रूखा-सूखा, ठंडा-बासी और नीरस जो भी आहार मिलता, वे शान्तभाव से संतोष के साथ ग्रहण करते। मात्र शरीर-निर्वाह के लिए सूखे भात, मूँग, उड़द का आहार करते। एक बार निरन्तर आठ मास तक वे इसी प्रकार का नीरस आहार करते रहे। रसों में उन्होंने कभी आसक्ति नहीं दिखायी।

देहासक्ति का त्याग : शरीर के प्रति वर्द्धमान की अनासक्तता रोमांचकारी थी। रोग उत्पन्न होने पर भी वे औषधि-सेवन की इच्छा नहीं करते थे। उन्होंने शरीर के विश्राम की कभी आकांक्षा नहीं की। वे दैहिक वासना से सर्वथा मुक्त थे।

निद्रा-विजय : श्रमण वर्द्धमान ने कभी पूरी नींद नहीं ली। जब अधिक नींद सताती तो वे शीत में बाहर निकल थोड़ा घूम कर निद्रा दूर करते। हमेशा सजग-जागृत रहने की चेष्टा करते। वे प्रहर-प्रहर किसी लक्ष्य पर आँखें टिका कर ध्यान करते थे।

अनासक्ति : वे गृहस्थों के साथ कोई संसर्ग नहीं रखते थे, न ही गृहस्थों के कार्यों में; गान, नृत्य या संगीत आदि में कोई रुचि रखते थे। ध्यानावस्था में कुछ पूछने पर भी उत्तर नहीं देते थे। वे स्त्री-कथा, भक्त-कथा, राज-कथा तथा देश-कथा में कोई रुचि नहीं लेते थे। यदि शून्य स्थानों में कोई उनसे पूछता कि आप कौन हैं, तो वे संक्षिप्त उत्तर देते– 'अहमसि ति भिक्खू' अर्थात् मैं भिक्षु हूँ। न सहन किये जा सके, ऐसे कटु व्यंग्य वचन, निन्दा एवं तिरस्कार का भी वे उत्तर नहीं देते थे तथा मौन रहते थे। वे हमेशा निर्विकार, कषाय-रहित, निर्मल ध्यान और आत्म-चिन्तन में समय बिताते थे।

अहिंसा एवं तितिक्षा : भगवान् ने पल-पल अनुपम अहिंसा और तितिक्षा की साधना की। भिक्षा में जाते हुए अगर कबूतर आदि पक्षी अनाज चुगते दिखायी देते तो वर्द्धमान दूर हट जाते; ताकि उन्हें विघ्न न पहुँचे। यदि वे किसी घर के बाहर किसी ब्राह्मण, श्रमण या भिक्षुक को याचना करते देखते, तो उस घर में नहीं जाते थे ताकि उनकी आजीविका में बाधा नहीं पहुँचे। किसी के मन में द्वेष-भाव उत्पन्न होने का वे अवसर ही नहीं देते थे।

दुर्गम विहार-चर्या : भगवान् ने दुर्गम लाढ देश की वज्रभूमि और शुभ्रभूमि दोनों में विहार किया। वहाँ उन पर अनेक विपदाएँ आयीं। वहाँ के लोग उन्हें ताड़ित करते, पीटते। उन्हें खाने को रूखा-सूखा आहार मिलता। कुत्ते उन्हें चारों ओर से घेर लेते तथा कष्ट देते। उन अवसरों पर ऐसे लोग विरले ही होते, जो कुत्तों से उनकी रक्षा करते। अधिकांश तो उल्टे भगवान् को ही पीटते तथा ऊपर से कुत्ते लगा देते। ऐसे अवसरों पर भी अन्य साधुओं की तरह उन्होंने दण्ड-प्रयोग नहीं किया। दुष्ट लोगों के दुर्वचनों को उन्होंने क्षमा-भाव से सहन किया।

अनुपम चिन्तन, अनुपम तप, अनुपम ध्यान, तितिक्षा, धैर्य आदि के साथ महावीर ने अपना साढ़े बारह वर्षों का साधना-काल व्यतीत किया। उनकी उग्र तपस्या तथा कष्ट-सहिष्णुता के कारण ही लोगों ने उन्हें श्रमण महावीर कहना प्रारम्भ किया।

साधना-काल के उपसर्ग : श्रमण वर्द्धमान ने अपने दीर्घ साधना-काल में सारा समय आत्म-चिन्तन तथा आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने के उद्यम में बिताया। उन्होंने इस साधना-काल में उपदेश नहीं दिया, धर्म-प्रचार नहीं किया, न शिष्य मुण्डित किये तथा न ही उपासक बनाये। उन्होंने ध्यान की अतल गहराइयों में डूब कर जगत् और जीवन के प्रत्येक प्रश्न पर गंभीरता से चिन्तन किया।

वर्द्धमान अपने युग के सर्वोत्कृष्ट प्रतिभाशाली एवं मेधावी पुरुष थे। यह उनकी दीर्घ साधना का ही फल था। शास्त्रों में उन्हें मेधावी (मेहावी), आशुप्रज्ञ (आसुपन्ने) तथा दीर्घप्रज्ञा (दीहपन्ने) बार-बार कहा गया है। उनके नाम के साथ निम्न विशेषण भी मिलते हैं :

दक्खे – वे बड़े दक्ष व व्यवहार-कुशल थे। **दक्खपइण्ण** – वे संकल्प एवं प्रतिज्ञा में दृढ़ थे।
भद्दय – वे सरल-भद्र प्रकृति वाले थे। **विणीये** – वे विनीत थे।

तीर्थंकर स्वयं सम्बुद्ध होते हैं। वे अपने स्वयं के पुरुषार्थ से आत्म-ज्ञान प्राप्त करते हैं। तीर्थंकर महावीर के भी किसी महान् सत्पुरुष से प्रत्यक्ष साक्षात्कार की कोई घटना नहीं मिलती।

वर्द्धमान को कभी-कभी किन्हीं स्थानों पर ठहरने और ध्यान करने की भी अनुमति नहीं मिलती थी, किन्हीं-किन्हीं गाँवों में वे जाते तो उन्हें तुरन्त वापस जाने को कह दिया जाता था, अतः उन्होंने निम्नलिखित नियम लिये–

– भविष्य में अप्रीतिकारक स्थान पर नहीं रहूँगा।
– ध्यान में सतत् लीन रहूँगा।
– सदा मौन रखूँगा।
– हाथ से ग्रहण करके भोजन करूँगा।
– गृहस्थ का विनय नहीं करूँगा।

साधना-काल में उनके जीवन में जो उपसर्ग आये, उनका कुछ विवरण यहाँ प्रस्तुत है–

अभय की उत्कृष्ट साधना : श्रमण वर्द्धमान विहार करते हुए एक छोटे-से गाँव 'अस्थिक ग्राम' में आये। वहाँ आसपास का वातावरण बड़ा ही भयावह एवं हृदय को कँपा देने वाला था। गाँव के बाहर शूलपाणि यक्ष का मन्दिर था। एकान्त स्थान देख कर भगवान् ने गाँव वालों से वहाँ ठहरने की अनुमति माँगी। महावीर की दिव्य, सौम्य आकृति को देख कर लोगों के हृदय द्रवित हो गये। उन्होंने कहा – 'देव! आप अन्यत्र ठहर जाएँ। यहाँ एक यक्ष रहता है, जो बड़ा क्रूर है। वह रात में किसी को यहाँ ठहरने नहीं देता। उसे भयंकर यातना दे कर मार डालता है।' महावीर यह सुन कर भी डरे नहीं और उन्होंने वहीं ठहरने का संकल्प किया तथा पुनः आज्ञा माँगी।

तब ग्रामवासियों ने महावीर को यक्ष से संबन्धित यह घटना सुनायी– 'देव! कुछ वर्षों पूर्व की घटना है। यहाँ से धनदत्त नामक व्यापारी पाँच सौ गाड़ियों में सामान ले कर गुज़र रहा था। वर्षा के कारण उसकी गाड़ियाँ यहाँ कीचड़ में फँस गयीं। बैल उन्हें खींच नहीं सके; पर उसके पास सफेद हाथी की तरह बड़ा ही बलवान एवं पुष्ट कन्धोंवाला एक बैल था। उस एक ही बैल ने धीरे-धीरे पाँच सौ गाड़ियों को कीचड़ से निकाल कर बाहर कर दिया, पर अत्यधिक परिश्रम के कारण वह बैल थक कर चूर हो गया तथा भूमि पर गिर पड़ा। व्यापारी ने अनेक प्रयत्न किये पर बैल खड़ा नहीं हो सका। तब व्यापारी ने गाँव वालों को एक बड़ी धनराशि दी तथा बैल की सेवा-परिचर्या का भार उन्हें सौंप कर वह आगे रवाना हो गया। गाँव वाले उस व्यापारी का सारा धन हज़म कर गये तथा उन्होंने बैल की कोई सेवा-शुश्रुषा नहीं की, न ही उसे खाने को कुछ दिया। भूखे-प्यासे सन्तप्त बैल ने एक दिन अपने प्राण छोड़ दिये। वही बैल मर कर शूलपाणि यक्ष बना अब गाँव वालों से अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहार का बदला ले रहा है। उसने घर-घर में पीड़ा, त्रास, तथा भय का आतंक फैला दिया है तथा सैकड़ों लोगों को मौत के घाट उतार दिया है।

महावीर उनकी कथा सुन कर भी निर्भय बने रहे तथा गाँव वालों से अनुमति ले कर वहीं एकान्त स्थान देख कर ध्यान-मग्न हो गये। अर्द्धरात्रि को यक्ष उस स्थान पर आया तथा एक मनुष्य को निर्भय खड़ा देख कर आग-बबूला हो गया। उसने भयंकर अट्टहास किया; लेकिन

महावीर तनिक भी विचलित नहीं हुए। वह यक्ष प्रलयकाल के तूफान की तरह हुंकार कर के रौद्र नृत्य करने लगा; लेकिन महावीर फिर भी स्थिर रहे। उसे उन पर अत्यधिक रोष आया। वह उन्हें तरह-तरह से यातना देने लगा। कभी मदोन्मत्त हाथी की तरह पैरों से रौंदता, कभी गेंद की तरह आकाश में उछालता, कभी बिच्छू की तरह ज़हरीले डंक मारता तो कभी शिकारी कुत्तों की तरह उनका मांस नोंच डालता; लेकिन महावीर फिर भी स्थिर और अडोल रहे। आखिर उसकी धृष्टता दूर हुई। उसकी दुष्टता महावीर की साधुता से भिड़ कर, टकरा कर निस्तेज हो गयी। वह हतप्रभ हो गया तथा उसे अपने-आप से घृणा हो गयी। उसने प्रभु महावीर के समक्ष क्षमा माँगी। महावीर ने उसे अभय-दान दिया। प्रातःकाल जब ग्रामवासी आये तो वहाँ बड़ा शान्त वातावरण था। यक्ष श्रमण महावीर की उपासना में निमग्न था। पूरा गाँव हर्ष से श्रमण महावीर की विजय-गाथा गाने लगा। (त्रिषष्टि १०/३)।

अहिंसा की अमृत-वर्षा : श्रमण महावीर सुवर्ण बालुका नदी के पास कनकखल नामक आश्रम-पाद से गुजर रहे थे। उन्होंने पीछे से आते हुए कुछ ग्वालों की भयाक्रान्त पुकार सुनी। उन्होंने कहा– 'देव! आप रुक जाएँ, आगे न बढ़ें, इस रास्ते पर एक भयावह काला नाग रहता है, जिसने अपनी विष-ज्वाला से अगणित राहगीरों को भस्म कर डाला है। हज़ारों पशु-पक्षी और पेड़-पौधे उसकी विषाग्नि से जल कर राख हो गये हैं। महावीर दो क्षण रुक गये। उन्होंने अपना अभयसूचक हाथ ऊपर उठाया, जैसे संकेत दे रहे हों, कि तुम घबराओ नहीं। गाँववालों ने उन्हें पुनः समझाया पर महावीर धीर-गंभीर गति से आगे बढ़ते गये। उस नाग की बाँबी के पास एक प्राचीन देवालय था, वे वहीं पहुँच कर ध्यान-मग्न हो गये।

जंगल में घूमता हुआ वह सर्प अपनी बाँबी के पास पहुँचा तथा वहाँ देवालय में एक मनुष्य को निश्चल खड़ा देख आश्चर्यचकित हो गया। साथ ही उसे भयंकर क्रोध भी आया। उसने अपनी विषमयी तीव्र दृष्टि से महावीर की ओर देखा, अग्नि-पिण्ड से जैसे ज्वालाएँ निकलती है, वैसे उसकी आँखों से तीव्र विषमयी ज्वालाएँ निकलने लगीं। साधारण मनुष्य तो उनसे जल कर खाक हो जाता, पर महावीर पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने उन पर बार-बार प्रहार किया पर महावीर ध्यान में अविचल निमग्न रहे। आखिर उसने एक तीव्र दंश उनके अँगूठे पर मारा; लेकिन यह भी निष्फल गया। उलटे वहाँ से दूध की धारा बहने लगी।

महावीर का ध्यान अब पूर्ण हुआ। उन्होंने चण्डकौशिक को उद्‌बोधन देते हुए कहा– 'चण्डकौशिक, समझो! समझो! अब शान्त हो जाओ। अपना क्रोध शान्त करो।' महावीर के अमृत-वचन सुन कर नागराज का क्रोध पानी-पानी हो गया। वह विचारों में गहरा उतरा तो उसे जाति-स्मरण प्राप्त हो गया। तीव्र क्रोध के कारण उसने पूर्व जन्मों में कितने-कितने कष्ट उठाये, वह उसे स्मरण हो आया। वह शान्त हो कर बार-बार उनके चरणों में लिपट कर क्षमा माँगने लगा। प्रातःकाल गाँव वालों ने यह दृश्य देखा तो वे आश्चर्यचकित हो उठे तथा प्रभु का गुणगान करने लगे।

अहिंसा, अभय, और मैत्री का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है (त्रिषष्टि १०/३)।

साधना की अग्नि-परीक्षा : साधना का ग्यारहवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ। श्रमण महावीर ने श्रावस्ती में वर्षावास किया। यहाँ ध्यान एवं योग की अनेक प्रक्रियाओं के द्वारा उन्होंने साधना की और भी प्रखर बनाया। तीन दिन का उपवास करके श्रमण महावीर पेढ़ाल उद्यान में

(शेष पृष्ठ ३० पर)

ध्यान से शक्ति का रूपान्तरण

श्रीचन्द्रप्रभ

मनुष्य विशुद्धतः शक्ति का पर्याय है। शक्ति के दो आयाम हैं – बनायें या मिटायें। सृजन और निर्माण शक्ति के सार्थक सूत्र हैं। खंडहर और विध्वंस शक्ति के दुरुपयोग हैं। मनुष्य के पास शक्ति की बेमिसाल उपलब्धियाँ होना मनुष्य की अपनी विशेषता है; किन्तु हम अपने जीवन के विविध क्षेत्रों का कैसा उपयोग करते हैं, यह हमारे मानवीय विवेक पर निर्भर करता है।

ऐसे मन मिलने कठिन हैं, जो निष्कलुष हों। मनुष्य के मन के पास शक्ति का अकूत खज़ाना है। मन की चेतना एकाग्र और तन्मय न होने के कारण ही उसकी ऊर्जा और क्षमता पतनशील बनी हुई है। मन की शक्ति को यदि एकाग्रता और आत्म-विश्वास का संबल मिल जाए, उच्च मस्तिष्क से वह संबद्ध रहे, तो मनुष्य का मन प्रकृति का सबसे बड़ा अदृश्य चमत्कार साबित होगा।

मन की शक्ति, तन की शक्ति, वचन और धन की शक्ति, समाज और समूह की शक्ति, जब तक गुणात्मक और रचनात्मक बनी रहे तभी तक वह संसार के लिए हितकर है। वही यदि आपाधापी, गलाघोंट संघर्ष, निन्दा और विध्वंस से जुड़ जाए, तो शक्ति, जो प्रकृति से मनुष्य को वरदान स्वरूप प्राप्त हुई है, मानवता के माधुर्य को काटने लगती है। इस तरह से वह स्वयं ही अभिशाप बन जाती है।

मनुष्य को चाहिये कि वह आत्मविश्वास-पूर्वक अपने ऊर्जाकृत उच्च मस्तिष्क को जाग्रत और सक्रिय करे, ताकि उसके जीवन का आत्मिक और आध्यात्मिक पक्ष सदा सुदृढ़ बना रहे। अपनी शक्ति को सृजनात्मक और रचनात्मक बनाने में ही मनुष्य का विश्वास होना चाहिये। हमारी शक्ति का चाहे जैसा रूप क्यों न हो, वह विपथगामी हो या शिथिल, आत्मविश्वास से तो पर्वतों को भी हटाया जा सकता है। गाँधी विश्व के एक अच्छे, आदर्श राजनीतिज्ञ और स्वतन्त्रता-सेनानी माने गये हैं। उनकी आत्मकथा जीवन के कई ऊहापोह-भरे पक्षों को उजागर करती है। गाँधी का दृष्टिकोण गुणात्मक रहा, रचनात्मक रहा, आत्मविश्वास की भावना से ओतप्रोत रहा। औरों के लिए अपने स्वार्थों का त्याग करने वाले ही महापुरुष होते हैं। हिटलर इतिहास की तारीखों में दर्ज होने के बावजूद जन-मानस की श्रद्धा के केन्द्र न बन पाये। हिटलर शक्ति का एक प्रकृष्ट रूप है। यदि उसकी शक्ति युद्ध और विध्वंसमुखी होने की बजाय रचनात्मक होती, तो वह भी हिमालय की तरह विश्व का आदर्श होता।

शक्ति का सृजनात्मक होना ही शक्ति का सार्थक स्वरूप है। सृजनात्मक होना ही शक्ति का सार्थक स्वरूप है। सृजनात्मक शक्ति ही अमृत है; शक्ति का विध्वंसात्मक रूप ही विष है। जो विश्व के नक्शे पर रंग न भर पाये, उन्होंने इसके रूप को कुरेदा ही है। हम चाहे अच्छा करें या बुरा, उसकी प्रतिक्रिया और प्रतिध्वनि सूक्ष्म-असूक्ष्म रूप से सारे ब्रह्माण्ड में फैलती है। आखिर जीवमात्र का पारस्परिक अन्तःसंबन्ध है। हम धरती पर आये हैं, तो खुशहाली के गीत गायें; सृजन करें; घर-परिवार-समाज को सजायें।

शक्ति के सार्थक सदुपयोग की जब बात आती है, तब महाभारत का एक प्रसंग उल्लेख्य है। कौरव और पाण्डव साम्राज्य में समान-संभागी थे; लेकिन कौरवों ने पाण्डवों को पीछे धकेल दिया और स्वयं सत्ता पर काबिज हो गये। अधिकारों के बावजूद पाण्डव असहाय-से हो गये, उन्हें खण्डप्रस्थ हाथ लगा, लेकिन उन्होंने अपनी शक्ति को सृजनात्मक रूप दिया और खण्डप्रस्थ 'इन्द्रप्रस्थ' के रूप में तब्दील हो गया। इसके विपरीत रावण जैसी मिसालें भी हैं, जिन्होंने अपनी शक्ति का उपयोग विध्वंस-रूप में किया। यही वजह है कि जो अपनी शक्ति को विध्वंस के मार्ग पर डाल देते हैं, उनके तो पुतले ही जलाये जाते हैं।

विध्वंसमुखी प्रवृत्तियों को नव-निर्माण के क्षितिज प्रदान किये जा सकते हैं। गालियों से भरे होठों को गीतों का रस और संस्कार दे दिया जाए, तो होठ हम सबको मुस्कान दे सकते हैं। जो हाथ वृद्धजन की सेवा के लिए हैं, गिरे हुओं को उठने के लिए हैं, यदि मनुष्य उन हाथों का उपयोग किसी को लाठी मारने या धक्का देने में करता हो, तो इसका दोष शक्ति को नहीं स्वयं मनुष्य को है। हम काँटों में-से फूलों को खिलते हुए देखें, खाद गोबर की दिये जाने के बावजूद पौधों में-से सुवास को फैलते हुए पाते हैं, तो हम अपने जीवन

की विपथगामी शक्तियों को परिवर्तन की नयी पुरवाई क्यों नहीं दे सकते? हमने क्रोध के दुष्परिणाम देखे हैं और प्रेम के शुभ परिणाम भी। यदि हम क्रोध की बजाय प्रेम तथा घृणा की बजाय करुणा को स्वीकार करें, तो इससे हमारा जीवन तो खुशहाल होगा ही, औरों के साथ हमारे संबन्ध भी मधुर और मज़बूत होंगे।

मनुष्य में आत्मविश्वास की कमी है। उसे जैसी परिस्थितियाँ मिली हैं, वह उनमें सुधार करने की बजाय, उन्हीं में ज़िंदगी गुज़ार लेता है। उसमें रूपान्तरित होने की कामना नहीं है। अगर कामना है भी, तो रूपान्तरित हो जाने का आत्मविश्वास नहीं है। मनुष्य प्रकृति का अंश अवश्य है; किन्तु पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं-सा नहीं है, जो अपने में सुधार और विकास न कर सके। माना, मनुष्य प्रकृति के कई धर्मों के आगे नतमस्तक हैं; किन्तु जीवन का कोई तयशुदा मार्ग नहीं होता। मनुष्य चाहे तो अपने मार्ग को बदल भी सकता है। अच्छा होगा कि मनुष्य अपने मन में घर कर चुकी अकर्मण्यता और जड़ता को उखाड़ फेंके अपने सोये हुए आत्मविश्वास को जगाये। अन्तर्मन को नपुंसक न होने दे; वह हर समय आत्मविश्वास से ओतप्रोत हो। वह इस संकल्प का स्वामी हो कि मैं अपने साधारण विचारों का त्याग करता हूँ और असाधारण विचारों का स्वामी बनता हूँ, मुझे यह जीवन परमात्मा से सौगात-स्वरूप प्राप्त हुआ है। मैं इस सौगात के लिए कृतज्ञ रहूँगा और स्वयं की उच्च शक्तियों का उपयोग करते हुए संसार के लिए यादगार जीवन जी कर जाऊँगा।

हमारे अन्तर्मन में होने वाला यह दृढ़ संकल्प और आत्मविश्वास निश्चय ही जीवन को रोशनी से भर देगा; हमारा अन्तर्मन रोशनी का धाम होगा, हम विकास की ऊँची मीनारों को छू सकेंगे।

रूपान्तरण ही जीवन की वास्तविक दीक्षा है। व्यवहार है तो व्यवहार, वाणी है तो वाणी, चिन्तन है तो चिन्तन, सम्यक्-दिशा की ओर उनका अग्रगामी होना ही रूपान्तरण है। मिट्टी को अगर बीज और खाद मिले तो वह फूलों को ईज़ाद कर सकती है। मिट्टी को अगर किसी माइकल एंजेलो के हाथ लगें तो वह मिट्टी में-से मूर्ति के सौन्दर्य को स्थापित कर सकती है। किसी महावीर और बुद्ध की साधना के स्पन्दन मिल जाएँ तो वह उनके जीवन का सिंहासन हो सकती है। जब मिट्टी किसी मूर्ति और दीपक को जन्म दे सकती है, बादल इन्द्रधनुष के वैभव को साकार कर सकता है तब फिर मनुष्य में ही नपुंसकता क्यों? हम अपने अन्तर्मन में समायी नपुंसकता को त्यागें, आत्म-विश्वास के साथ अपने स्वभाव और शक्ति के रूपान्तरण के लिए सजग और प्रयत्नशील हों।

आज की तारीख में हमारा स्वभाव क्या है? हमारी जीवन-शक्तियाँ विपथगामी हैं या सत्पथगामी? हमें उसका जायजा लेना चाहिये ध्यानपूर्वक, धैर्य-पूर्वक, शान्ति-पूर्वक। ध्यान आधार है रूपान्तरण का। ध्यान आयाम है शक्ति के सृजन का। मनुष्य अपना रूपान्तरण कर सकता है, इसीलिए अनुरोध है; बाकी के प्राणी वैसे ही जीने को विवश हैं जैसी उनकी प्रकृति है। अगर मनुष्य समर्थ है और समर्थता का उपयोग न करे तो फिर मनुष्य, मनुष्य कहाँ हुआ? चौपाये की सुधरी हुई नस्ल-भर वह कहलायेगा।

बेहतर होगा हम ध्यान धरें। अन्तर्मन में उठती-बैठती ऊर्जा तरंग का ध्यान धरें। निमित्तों के उपस्थित हो जाने पर चित्त में उठने वाले संवेग-उद्वेग पर ध्यान धरें। जैसे ही हम अपने प्रति अपना ध्यान लायेंगे चित्त की उलट-बाँसियाँ मौन हो जाएँगी। नतीजा यह होगा कि पराजय की कगार पर खड़ा इन्सान फिर भी जीत जाएगा। जितेन्द्रियता का एक चरण पूरा हो जाएगा।

हमारी जीवन शक्तियाँ रूपान्तरित हों, चेतनागत नयी शक्तियों का जन्म हो, जीवन और जगत् में नयी संभावनाओं का अभ्युदय हो। ध्यान भीतर होने का अभ्यास है; जीवन की बहिर्मुखी ऊर्जा पर नियन्त्रण है। ऊर्जा की वापसी है, पंछी की नीड़ में अन्तर्यात्रा है। बाहर से भीतर उतरो, भीतर की उच्छृंखलताओं को पहचानो, उन्हें अपने से अलग देखो। जैसे ही हम उन्हें अपने से अलग देखेंगे, हमारी ओर से उन्हें मिलने वाली ऊर्जा मंद पड़ जाएगी और यों उनका उत्ताप ठंडा पड़ जाएगा। भीतर की उच्छृंखलता, भीतर के कषाय, भीतर का शोरगुल थमते ही अन्तर्मन मानो शान्ति का उपवन हुआ, आनन्द का नन्दनवन हुआ; यानी तुम मन की वैतरणी से पार लगे, अपनी मौलिक शान्ति और निजता को उपलब्ध हुए। आत्मविश्वास जगाओ और आगे बढ़ो। ☐☐

दाह-संस्कार और समाधि-मन्दिर : उभरते प्रश्न

जे.के. संघवी

मृत्यु के बाद शरीर केवल कलेवर रह जाता है। बिना जीव के कारण उसे मात्र मिट्टी समझा जाता है। दाह-संस्कार हेतु मृत शरीर को यथाशीघ्र नगर या गाँव के बाहर ले जाया जाता है; किन्तु आजकल परिवार अथवा संबन्धित व्यक्तियों के आगमन की प्रतीक्षा में लम्बे समय तक अथवा कभी-कभी तो एक, दो, या तीन दिनों तक रखा जाने लगा है और देखा-देखी में उसे व्यवहार का रूप देने से अनर्थ की यह परम्परा बढ़ने लगी है। वास्तव में मृत्यु के बाद शरीर से उस आत्मा का कोई संबन्ध नहीं रह जाता है।

मृत शरीर को अधिक समय तक रखने से उसमें असंख्यात जीवों की उत्पत्ति होती है। शास्त्रानुसार जिस प्रकार मनुष्य के मल-मूत्र, कफ, नाक-के-मैल, वमन, पित्त, मवाद, रक्त, वीर्य आदि में संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार मरणोपरान्त मृत शरीर में भी संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। इन संमूर्च्छिम जीवों की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र की होती है तथा ये बिना माता-पिता के संयोग से ही उत्पन्न हो जाते हैं। अति सूक्ष्म होने के कारण ये आँखों से दिखायी नहीं देते। इसके अतिरिक्त भी स्थावर एवं त्रस जीवों की उत्पत्ति मृत शरीर में होती रहती है; इसीलिए जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, मृत शरीर से बदबू आती है। रख-रखाव के लिए बर्फ या सुगन्धित पदार्थों का उपयोग किया जाता है। बर्फ का उपयोग भी हिंसा का कारण है, चूँकि वह भी अपकाय जीवों का पिण्ड है। शव हो जाने के पश्चात् यह शरीर न तो छूने योग्य रहता है, न दर्शन करने योग्य दर्शन आदि के लिए विशेषतः संत-सतियों के शव को रखना भी उचित प्रतीत नहीं होता। मृत्यु किसी भी प्रकार की हो, साधारण मृत्यु या पण्डित मरण, निर्वाण हो या अकाल मृत्यु, साधारण गृहस्थ की मृत्यु हो अथवा साधु-सन्त की, इससे होने वाली हिंसा को टालने एवं जीव-हिंसा से बचने के लिए शव का शीघ्र दाह-संस्कार (निस्तारण) आवश्यक है।

साधु-संतों के मृत शरीर को दो-दो, तीन-तीन दिन रोका जाने लगा है। मृत्यु के बाद उनके शरीर को विमान या वाहन द्वारा निश्चित स्थान ले जाने की घटनाएँ भी होने लगी हैं। **संसार त्याग कर जिन्होंने संयम धारण किया, जीवन में कभी वाहन का प्रयोग न कर पैदल विहार किया, उनकी मृत्यु के पश्चात् उन्हें वाहन या विमान में ले जाना कितना उचित है?** यह परम्परा हिंसा एवं आचार-शैथिल्य को बढ़ावा देने वाली है। आडम्बर प्रेमी, धन-लालची इस हिंसक परम्परा को बढ़ावा दे रहे हैं; क्योंकि दो-तीन दिन शव रख कर प्रचार-माध्यमों द्वारा अन्तिम दर्शन के नाम पर हज़ारों की संख्या में जन-समुदाय इकट्ठा किया जा कर संयम के सभी उपकरणों एवं दाह-संस्कार की बोलियाँ जलायी जाती हैं। एक ग़लत परम्परा अन्य अनेक अनर्थों को जन्म देती है। भक्त जनों द्वारा बोलियों से प्राप्त धन द्वारा फिर धाम बनाये जाते हैं।

बड़ी विचित्र बात है कि सूक्ष्म जीवों की रक्षा के लिए सामाजिक, पौषध आदि में पूंजणी रजोहरण ले कर चलते हैं, खुले में सिर ढँक कर चलते हैं, प्रतिक्रमण में जीव-हिंसा की आलोचना करते हैं, और दूसरी ओर टाली जाने वाली हिंसा को भी नहीं डाल कर उस ओर प्रवृत्त होते हैं!! साधु-संतों को भी ऐसी स्थिति में मौन न रह कर संघ को स्पष्ट मार्गदर्शन देना चाहिये अन्यथा मौन या मूक दर्शक बनना भी ग़लत परम्परा को स्वीकृति देने के समान ही है।

हमारी व्यापारी बुद्धि ने हर चीज का व्यापारीकरण कर दिया है। बोली की परम्परा हमारे पूर्वाचार्यों ने चालू की, वह बुरी नहीं है; लेकिन आज बात-बात की जो बोलियाँ लगने लगी हैं, वे विचारणीय हैं।

एक बात यह भी चिन्तनीय है कि संयम लेने के पश्चात् या दूसरे शब्दों में संसार छोड़ने के पश्चात् उस व्यक्ति के सारे संसारी रिश्ते-नाते संबन्ध-विच्छेद मान लिये जाते हैं; लेकिन उस संत के स्वर्गवास-पश्चात् चिता को मुखाग्नि की बोली के समय यह आशा की जाती है कि उनके सांसारिक परिजन यह चढ़ावा (बोली) लेंगे। कई बार तो परिजनों को शर्म में पड़ कर व्यावहारिकता निभाने हेतु ऊँची बोली बोलनी पड़ती है। पहली बात तो सांसारिक संबन्ध-विच्छेद के बाद ऐसी भावना रखना ही उपयुक्त नहीं है, फिर यदि उन्हें ही लाभ लेना है तो उसकी बोली बोलने की क्या ज़रूरत है?

दाह-संस्कार के पूर्व बोलियों की आय से धाम, या उनके समाधि-मन्दिर बनाने की परम्परा चल पड़ी है। भगवान् ऋषभदेव के काल से तो अनन्तानन्त साधु हुए है; लेकिन भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भी अनगिनत साधु हुए हैं, आज की रफ्तार से देवलोक (मृत्यु) के पश्चात् यदि उनके समाधि-मन्दिर बनाये जाते तो क्या स्थिति होती, विचारणीय है। हाँ, किसी युग-पुरुष विरल विभूति जिनको मानने वाले लाखों की संख्या में हों उनकी स्मृति में कोई समाधि-मन्दिर बनता है तो वह श्रद्धा-केन्द्र भी बनता है, लेकिन ऐसे महापुरुष हज़ारों-लाखों में एक होते हैं। आज हर शिष्य अपने गुरु की स्मृति में समाधि-मन्दिर बनाने की दौड़ में लगा है। निश्चित रूप से गुरु-शिष्य के लिए पूज्य होते हैं; लेकिन महिमा-मण्डित करने का रास्ता मात्र समाधि-मन्दिर नहीं है, यदि उनके आदेशों का पालन करते हुए वह शिष्य ज्ञान, ध्यान, संयम में आगे बढ़ता है तो निश्चित रूप से अपने साथ ही गुरु का नाम उज्ज्वल कर सकता है।

ऐसी भी घटनाएँ सुनने में आयी हैं, कि अब तो सन्त मृत्यु के पहले उनका समाधि-मन्दिर कहाँ बनाया जाए यह स्वयं ही निश्चित करने लगे हैं। वे उस जगह का चुनाव ऐसे तीर्थ पर करते हैं, जहाँ उनका वर्चस्व हो। संयोगवश यदि उनकी मृत्यु कहीं दूसरी जगह हो जाए तो वाहन या विमान द्वारा उनकी पार्थिव देह को वहीं ले जा कर उनका अग्नि-संस्कार किया जाता है, जो जगह उन्होंने चुन कर दी हो और ऐसा करने में उनके शिष्य या भक्तगण यह मान कर संतोष करते हैं कि उन्होंने गुरु की एक इच्छा पूरी की।

पिछले कुछ वर्षों से धामों की होड़-सी लग रही है। इन धामों में अनेक प्रकार की विकृतियाँ पनप रही हैं, जो शिथिलाचार को बढ़ावा देती हैं। पिछले वर्षों में ऐसी कई घटनाएँ प्रकाश में आयी हैं, जिनने श्रमण-संस्कृति की विश्वसनीयता को कम किया है। विशेषकर धाम बना कर अधिकांश समय या शेषकाल के समय लगातार वहाँ रहने से मानव-स्वभाव के कारण आचार-शैथिल्य आने की पूरी संभावना होती है।

एक बात स्पष्ट कर दूँ, कि वर्तमान स्थिति जो मेरे देखने में आयी है, उसके अनुचित लगने के कारण ही मैंने इस लेख द्वारा समाज को सचेत करने का विनम्र प्रयास किया है। मेरी न तो किसी समाधि-मन्दिर की ओर दुर्भावना है न ही किसी व्यक्ति-विशेष की ओर। फिर भी इस आलेख से किसी की भावना को ठेस लगी हो तो 'मिच्छामि दुक्कडम' माँगने के साथ ही ये आशा करता हूँ कि इस विषय पर कोई आलोचना सम्मति या प्रतिक्रिया लिखित में भेजेंगे तो आभारी रहूँगा। ☐☐

स्वस्थ, स्वच्छ और स्वाधीन समाज के प्रबल पक्षधर पण्डित चैनसुखदास* न्यायतीर्थ

प्रवीणचन्द्र छाबड़ा

बीसवीं सदी के जागरण के प्रथम प्रहर में पण्डित चैनसुखदास न्यायतीर्थ का जन्म (२२ जनवरी १९००) एक अपूर्व संयोग है। तब पूरे देश में स्थापित अंग्रेजों की प्रभुता को चुनौती दी जाने लगी थी। विदेशों से शिक्षा-प्राप्त युवक स्वतन्त्रता के महत्त्व को समझने लगे थे। वे ही नये युग के लिए प्रयोगों की धरती तैयार कर रहे थे। भारतीय धार्मिक ग्रन्थ शिक्षा-प्रणाली से बाहर होते जा रहे थे। वेशभूषा, व्यवहार और रहन-सहन के तौर-तरीक़ों में बदलाव आता जा रहा था। अंग्रेजी का व्यापक प्रसार हो रहा था। व्यवसाय तथा राजकीय सेवाओं के लिए अंग्रेजी के ज्ञान की उपादेयता सिद्ध होने लगी थी। १९०२ में पहली बार राष्ट्रीय कांग्रेस ने देश में उद्योग खड़े किये जाने तथा भारत में निर्मित वस्तुओं के उपयोग पर ज़ोर दिया। १९०५ में बंग-भंग के विरुद्ध आन्दोलन के साथ विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का कार्यक्रम भी शुरू हुआ। इन गतिविधियों के कारण भारतीय परम्परा, संस्कृति और समाज में जागरण को नये ढंग से देखने का पथ उजागर हुआ।

नयी सदी के नये आयामों के साथ पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ ने जैनदर्शन, जैनधर्म तथा समाज के पुनरुत्थान के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। पण्डितजी काया से दुर्बल होने के साथ पोलियो से ग्रस्त होने के कारण अपंग हो गये थे। बाल्यावस्था में ही पिता का साया उन पर से उठ गया। उनकी माता ने सूत कात कर उनका लालन-पोषण किया। दुर्बल काया के बावजूद चैनसुखदास के पास तीक्ष्ण बुद्धि थी, जो सभी प्रकार की कमियों का निराकरण कर देती थी। बचपन में ही अंग्रेजी के साथ हिन्दी, गणित, भूगोल, धर्म आदि विषयों में वे समान रूप से उन्नति करते गये। उन्हें ऐसा संरक्षण एवं अवसर मिल गया कि वे बनारस के स्याद्वाद विद्यालय में आगे के अध्ययन के लिए जा सके। उनका अध्ययन और विकास पारम्परिक ढंग से हुआ। विद्यालय की शिक्षा समाप्त कर वे अपने गाँव आये। अध्यापन को अपना कार्य-क्षेत्र चुना जो आगे चल कर उनके जीवन-निर्वाह का आधार बना। कुचामन के जैन विद्यालय से १९३२ में वे जयपुर आ गये। विकासशील एवं सुधारवादी युवकों के लिए युवा पण्डितजी का आना सोने में सुगन्ध जैसा था। जयपुर जैन समाज में सुधार का अभियान चल रहा था। पण्डितजी के लेखन और प्रवचनों ने सुधार कार्यक्रम को अधिक गतिशील बना दिया।

पण्डित चैनसुखदास न्यायतीर्थ ने अपनी लेखनी और वाणी से परम्परागत बेड़ियों से जकड़े समाज की मानसिकता को आज़ाद करने का प्रयत्न किया। वे ऐसे द्वार बन गये, जहाँ प्रगति और विकास के चरण प्रवेश लेने लगे। उनके प्रवचनों ने बहुतों को जोड़ दिया। प्रतिदिन होने वाली शास्त्र-सभा में पुनरुत्थान पर चर्चा होने लगी। 'जैन बन्धु' के संपादन ने उन्हें समाज में नयी धारा के प्रवाह का अवसर दिया। उनकी पत्रकारिता का मुख्य

* जन्म : २२ जनवरी १९००; देहान्त : २६ जनवरी १९६९।

उद्देश्य समाज में प्रचलित कुरीतियों के निराकरण के साथ मुनियों के शिथिलाचार, धर्म के नाम पर हो रहे कर्म-काण्ड एवं पाखण्ड को उजागर करना था। समाज में किसी भी ग़लत कार्य को होते देखना उन्हें सहन नहीं होता था। उनका मानना था कि हृदय की शुद्धता और आचरण की स्वच्छता से ही व्यक्ति नैतिक रह सकता है। वे शीघ्र ही जैन दर्शन के महिमामय प्रतीक बन गये।

सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों की प्रभुता-तले सामन्तशाही की दासता के कारण समाज में अनेक कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ एवं अन्धविश्वास फैल गये थे। नाच-पार्टियों और पेशेवर नर्तकियों को उत्सवों में नचाने की प्रथा सामान्य थी। इन्हें समाज के धनी और सामन्तों का संरक्षण प्राप्त था। बाल-विवाह की प्रथा थी और इसे धर्म-सम्मत करार किया हुआ था। युवा विधवाएँ नारकीय जीवन बिताने को विवश थीं। अर्थहीन कर्मकाण्डों में धर्म समझा जाता था। मुनि भी धनिक वर्ग को आशीर्वाद दिये रहते थे। पण्डितजी ने समय की पुकार सुन कर इन सब कुप्रथाओं पर गहरी चोट करना शुरू कर दिया। इन सबके करने में उन्हें जोखिम भी उठानी पड़ी। उस काल में समाज के परम्परावादी साधुओं, धनिकों और पंचों की आलोचना करना सबसे अधिक खतरनाक काम था; पर पण्डितजी की अभिव्यक्ति की अपूर्व क्षमता के समक्ष परम्परावादियों के तर्क और आक्रमण टिक नहीं सके।

पण्डित चैनसुखदासजी अद्वितीय वक्ता थे। उनके शब्द मन्त्र और वाक्य सूक्ति की तरह होते थे। उनकी भाषा सरल और सटीक होती थी। हज़ारों के समूह को वे अपनी धारा-प्रवाह भाषण-शैली से मुग्ध कर लेते थे। पण्डितजी विचारों की स्वतन्त्रता तथा क्रिया में अनुशासन को मानते थे। 'स्वतन्त्र कर्ता' किसी भी काम को करने वाला कहलाने के लिए स्वतन्त्र होना आवश्यक है। स्वतन्त्र वह हैं, जो विवेकी है, दास नहीं है। इन्द्रियों की दासता सबसे बड़ी दासता है। वे इन्द्रिय-संयम और नियन्त्रण को स्वतन्त्रता की पहली और अन्तिम शर्त मानते थे। उनका मानना था कि अधिकांश कुप्रथाएँ इन्द्रियों की दासता के कारण से हैं। विलासिता व्यक्ति और समाज दोनों में जड़ता लाती है। जड़ता में विवेक नहीं रहता और वह अन्ध श्रद्धा के कारण कर्मकाण्डों, आडम्बरों में उलझता जाता है।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय नव-जागरण के प्रणेताओं ने व्यापक अभियान छेड़ा था, आज बीसवीं सदी के समापन पर वे बुराइयाँ दूसरे रूप में विस्तार पाने लगी हैं। जनतन्त्र परिवर्तन का नहीं, पुरानी व्यवस्था और रीति-रिवाजों को वापस लाने और बनाये रखने का साधन बन गया है। समाज और सत्ता के नेता स्वभाव और व्यवहार से रूढ़िवादी एवं विचारों में दक़ियानूस हैं। पत्र और पत्रकार भी कर्मकाण्डों एवं आडम्बरों को महिमा-मण्डित करने में लगे हैं। साधुओं के शिथिलाचार और व्यवहार पर टीका सबसे बड़ा खतरा हो गयी है। राजनेता उन्हें और वे राजनेताओं को सम्मान दिये रहते हैं। परस्पर का यह सदाचार समूचे कार्य-व्यवहार में अनाचार फैलाता जा रहा है। सामाजिक सुधार का काम छोटा हो गया है। यही कारण है कि आज वापस दहेज, नारी-प्रताड़ना के मामले बढ़ते जा रहे हैं। धार्मिक आयोजन कर्मकाण्ड हो गये हैं, वे चेतना के संस्कार नहीं देते। ◻

संपादकीय–२

सुनिये!!

जैन साध्वी : नया चेहरा; नये तेवर

तमिलनाडु की राजधानी चैन्नई के उत्तर-पश्चिम में ६४ किलोमीटर के फासले पर राजकुळम् ('कुळम्' तमिल में तालाब को कहते हैं) कस्बा है, जिसके ठीक सामने साध्वी दिव्यसाधनाश्री की प्रेरणा और पहल से दस एकड़ ज़मीन पर **दक्षिण पावापुरी** नामक एक आधुनिक जैन तीर्थ विकास की डगर पर तेज़ी से बढ़ रहा है। फिलवक़्त द. पावापुरी में चार साध्वियाँ हैं – सा. पुष्पावती, सा. दिव्यसाधनाश्री, सा. अन्तःसाधनाश्री, तथा सा. कलाश्री।

साध्वी दिव्यसाधनाश्री का व्यक्तित्व विचक्षण और निर्भीक है। वे स्पष्टवादी हैं। चिन्तक हैं। उन्हें जैनागम का अच्छा ज्ञान है। उनकी जीवनशैली आधुनिकताओं को दरकिनार कर चलने की नहीं है। मोबाइल फोन, सोफासेट इत्यादि का वे निःसंकोच उपयोग करती हैं। इन सबसे उन्हें कोई परहेज़ नहीं है। उनका सोच अधुनातन है। वे कहती हैं– 'मैं सिंहनी हूँ, सियारनी नहीं हूँ'। मैं जैन साध्वी हूँ। आगमोक्त चर्या करती हूँ और अहिंसा को एक नया आयाम देने में व्यस्त हूँ। 'सब पर करुणा, सब पर प्यार; सब पर रहम, सब पर स्नेह/वात्सल्य' दक्षिण पावापुरी का स्लोगन है। यहाँ न कोई आडम्बर है और न छलछद्म; है यदि कुछ तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अपूर्व कामना।

दक्षिण पावापुरी में लगभग ७० गाय-बछड़े, ६०-७० बकरे-बकरियाँ, १०-१२ कुत्ते, ४-५ बिल्लियाँ हैं। सब हिलमिल कर बसर करते हैं। शाकाहारी हैं। कुत्ते-बिल्ली एक प्याले में दूध पीते हैं। कुत्ते साध्वियों की गोद/आँचल-की-छाँव में अभीत आ बैठते हैं। सबसे पहले एक गाय आयी। 'पूनम' को आने से उसका नाम 'पूर्णिमा' रखा गया। उसके एक केड़ा (बछड़ा) था, जिसका नाम सोमदत्त था। पूर्णिमा तमिल समझती है, सोमदत्त मारवाड़ी जानता है; माँ-बेटे प्रीति-की-ज़ुबान बोलते हैं।

पावापुरी की सबमें बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ पशु-पालन नहीं होता; पशु-पक्षियों की प्राण-रक्षा होती है। व्यापारिकता यहाँ ज़रा भी नहीं है। जो जीव वहाँ आ गया, उसका करुणा की सुखद छाँव में निरापद लालन-पालन होता है। सबके स्वास्थ्य की सावधान देखभाल होती है।

ऐसा नहीं है कि यहाँ सिर्फ पशु ही पशु हैं; पक्षी भी हैं। सबसे पहले कोई छोटे सुग्गे (लव्ह बर्ड्स/ अगोपार्नीस) छोड़ गया था। उनके पंख कटे हुए थे। जैसे ही उनके पंख आ गये, उन्हें उड़ा दिया गया। सुग्गे/तोते फल और अन्न पर बसर करते हैं; कीड़े, पतंगों को छूते तक नहीं हैं। इनका आहार शुद्ध वैष्णवी है, कदाचित् इसीलिए हिन्दू मात्र में इनका आदर है। तीतर, कबूतर, मैना, तोता, जो भी, जब भी आ जाता है, उसे साध्वियों का दुलार मिलता है और वे फिर जाने का नाम नहीं लेते। साँप भी यहाँ है, जो फन उठा कर श्वान-पुत्रों के साथ खेलता है।

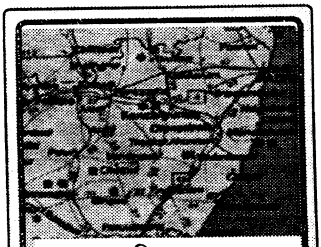

तमिलनाडु

दक्षिण पावापुरी में सख़्त हिदायत है कि कीड़ी से ले कर गाय तक किसी को भी कोई तकलीफ़ न हो। साँप यदि है तो उसे मारो मत – स्वतन्त्र छोड़ दो। दिव्यसाधनाश्रीजी तो साँप को पकड़ कर जब-तब किसी निरापद स्थल पर छोड़ आती हैं। **वस्तुतः इन साध्वियों का एक अनूठा परिवार है, जिसके मनुष्य से ले कर छोटे-बड़े सभी प्राणी सम्मान्य सदस्य हैं। अभय इतना,**

कि कोई हिसाब नहीं है। असल में पावापुरी में 'भय' के लिए कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न उठता है कि क्या जैन साध्वियों को पशु-पालन, या पशु-संरक्षण करना चाहिये? उत्तर बहुत स्पष्ट है। यदि आध्यात्मिक साधना के साथ तिर्यंचों को भी अपने साथ जोड़ा जा सके, तो इससे तो समता की एक उदात्त अवधारणा ही कोई रचनात्मक आकृति ग्रहण करेगी। आखिर समवसरण के श्रीमण्डप के बारहवें कोठे में तिर्यंचों के लिए भी भगवान् की देशना सुनने की व्यवस्था होती है। कदाचित् पावापुरी में जो कुछ हो रहा है उसमें कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे बुरा कहा जाए या किसकी निरर्थक आलोचना की जाए।

दिगम्बर आचार्य श्री विमलसागरजी के संघ में एक कुत्ता था, जो नियमित बना रहता था और साथ-साथ विहार करता था। मुनिश्री धवलसागरजी से बन्दर बहुत हिलमिल गये थे। वे उनके साथ स्वाध्याय करते थे। सनातनधर्मी संन्यासिनी सुश्री उमा भारती को कुत्तों, घोड़ों और पक्षियों के साथ समय बिताने का शौक़ है।

दक्षिण पावापुरी का संपूर्ण वातावरण अत्यन्त धार्मिक और मानवीय है। वहाँ तुरन्त जन्मे प्राणी को 'णमोकार महामन्त्र' सुनाया जाता है। जो पशु-पक्षी प्राण छोड़ रहे होते हैं, उन्हें भी 'णमोकार महामन्त्र' सुनाया जाता है।

आज जब कि जैन परिवारों में सुबह-सुबह टीवी पर फिल्मी संगीत सुना जाता है, तब पावापुरी का पशु-पक्षी-परिवार णमोकार महामन्त्र की गूँज से उपकृत होता है। हमारे मत में इस सबमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसकी उपेक्षा की जाए या जिसके लिए खरेखोटे शब्दों का इस्तेमाल किया जाए।

अक्सर देखा गया है कि साध्वियाँ अस्वस्थ रहती हैं; लेकिन दिव्यसाधनाश्रीजी पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न हैं। निरीह/रागद्वेष-रहित प्राणियों के साथ रहने में उन्हें सुख मिलता है। देखिये न, **जब सारी दुनिया मनुष्यों को पशु बनाने में लगी है, तब यदि दक्षिण पावापुरी का पवित्र परिसर पशुओं को मनुष्य बनाने में व्यस्त है तो इसमें कहाँ-कुछ आपत्तिजनक है, या हो सकता है।** यहाँ उन्हें निर्वैर और 'परस्परोपग्रह' का अनुपम पाठ पढ़ाया जा रहा है – उन्हें शान्ति और सहअस्तित्व की भाषा सिखायी जा रही है – यह क्या हम सबके लिए गौरव का विषय नहीं है?

कुत्ते-बिल्ली जहाँ मांसाहार (अशैव उणवु) छोड़ कर शाकाहार (शैव उणवु) अंगीकार कर रहे हों, वहाँ जैनों के सामने यह एक क़रारी चुनौती है कि वे शाकाहार-की-गुणवत्ता का पुरज़ोर प्रचार-प्रसार करें और पूरी दुनिया में अहिंसा का जयघोष करें।

हमें दिव्यसाधनाजी का आभार मानना चाहिये कि उन्होंने जीवदया की अवधारणा को एक नया मोड़ दिया है और दुनिया के सामने एक बेजोड़ मिसाल पेश की है।

जब कोई साध्वी किसी मेमने को बोतल से दूध पिला रही हो, और मेमने की आँखों में करुणा/अहिंसा की जय-ध्वनियाँ जन्म ले रही हों, तब सच मानिये धरती और आसमान दोनों धन्य हो उठते हैं। ऐसे दृश्य, जब दाल-रोटी/हरी पत्तियाँ कुत्ते-बिल्ली खाने लगते हों, तब लगता है कि जैन साधु-संस्था देश में ऐसी प्रयोगशालाएँ स्थापित कर रही है, जिनमें अहिंसा की एक सार्वभौम छवि करवट ले रही है और आने वाली शताब्दी/सहस्राब्दी को करुणा तथा सहअस्तित्व का शुभ संदेश दे रही है।

–नेमीचन्द जैन

* कोष्ठक में तमिल शब्द दिये गये हैं।
* देखें– 'आवरण-चित्र'।

'प्रबुद्ध जीवन' की षष्टिपूर्ति संपन्न

मुंबई। श्री मुंबई जैन युवक संघ के मुखपत्र 'प्रबुद्ध जीवन' (पूर्वनाम 'प्रबुद्ध जैन') ने दिसम्बर १९९९ के अंक के साथ अपनी छह दशक की गौरवशालिनी जीवन-यात्रा संपन्न की। 'प्र.जै.' का प्रवेशांक अप्रैल १९३९ में प्रकाशित हुआ था; तब यह साप्ताहिक था, तदनन्तर पाक्षिक हुआ, और आज मासिक है। निष्पक्षता, गुणवत्ता, सत्त्वशीलता, निष्ठा, सामाजिक जागृति, तथा दीर्घदर्शिता की दृष्टि से 'प्रबुद्ध जीवन' का साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक, राष्ट्रीय, एवं धार्मिक अवदान अविस्मरणीय है। वर्तमान में इसके यशस्वी संपादक श्री रमणलाल ची. शाह हैं।

पं. दलसुख भाई मालवणिया का निधन

अहमदाबाद। २८ फरवरी २००० को जैन धर्म/दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् महामनीषी पं. दलसुख भाई मालवणिया (९०) का देहावसान हो गया। पण्डितजी का जन्म सायला (सुरेन्द्रनगर, गुजरात) में २२ जुलाई १९१० को हुआ। सन् १९३१ में उन्होंने 'न्यायतीर्थ' की परीक्षा उत्तीर्ण की और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गये। एक दिसम्बर '५९ को उन्होंने एल.डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी के निदेशक का पद सँभाला और लगातार तीन दशकों तक उसकी सेवा करते रहे। वे एक विख्यात लेखक, विचारक, संपादक, टीकाकार, अनुवादक, अध्यापक, और वक्ता थे। वर्ष १९६८-'६९ में वे टोरेंटो विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन के विजिटिंग प्रोफेसर रहे। वर्ष १९७४ में उन्हें 'वीर निर्वाण भारती पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। निश्चय ही पण्डितजी के निधन से जो रिक्तता बनी है, उसे शताब्दियों तक भरना संभव नहीं होगा।

स्व. पं. दलसुख भाई मालवणिया द्वारा ७ जुलाई '८७ को 'तीर्थंकर सन्दर्भ' के लिए प्रेषित चित्र, जिसे उनके सुपुत्र श्री रमेशचन्द्र मालवणिया ने विशेष रूप से लिया था।

श्री सुरेश सरल 'वीरोदय पुरस्कार' से सम्मानित

दिल्ली। १३ फरवरी को देश के जाने-माने संत-जीवनीकार श्री सुरेश सरल (जबलपुर) को उनकी बहुमूल्य कृति 'महायोगी गुप्तिसागरजी' के निमित्त 'वीरोदय ट्रस्ट निर्माण विहार' ने वर्ष २००० के 'वीरोदय-पुरस्कार' से सम्मानित किया है। पुस्तक का लोकार्पण दिल्ली के शिक्षा मन्त्री डॉ. बलिया ने किया; ट्रस्ट-प्रमुख श्री कुलदीप जैन ने श्री सरल का २१ हज़ार रु., शॉल, और श्रीफल से भावभीना सम्मान किया, और 'जैन महिलादर्श' की संपादिका डॉ. श्रीमती नीलम जैन ने उपाध्याय श्री गुप्तिसागरजी के सान्निध्य में आयोजित इस कार्यक्रम का संचालन किया। उल्लेख्य है कि श्री सरल अब तक छह जैन संतों की सफल जीवनियाँ लिख चुके हैं।

'वर्णीधाम' का शिलान्यास

पानीपत। २१ जनवरी को वर्णी-परिवार-प्रमुख श्री प्रसन्नकुमार एवं श्री रवीन्द्रकुमार जैन ने यशस्वी जैन कोशकार महामनीषी श्री जिनेन्द्र वर्णी के पैतृक निवास वर्णी-जन्मस्थली को उनकी पुण्यस्मृति में 'वर्णीधाम' के रूप में विकसित करने के सुदृढ़ संकल्प के साथ लोकार्पित कर दिया। दिगम्बर जैन समाज के प्रधान श्री माणिकचन्द्र जैन ने 'वर्णीधाम' का

शिलान्यास किया। 'वर्णीधाम' में ऑक्सफोर्ड के अनुसरण पर एक बारहमासी जैन कोश-विभाग के खोले जाने की संभावना है। यहाँ एक साधन-संपन्न सन्दर्भ ग्रन्थालय भी स्थापित किया जाएगा।

डॉ. विलास संगवे सम्मानित

कोल्हापुर। जैन धर्म/समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन के पुरोधा डॉ. विलास आ. संगवे (ज. २ जून १९२०) को राजर्षि शाहू छत्रपति के शतकोत्तर रौप्य महोत्सव समारोह पर 'प्रथम शाहू ग्रन्थ पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। शाहू ट्रस्ट ने समाजशास्त्री डॉ. संगवे को कोल्हापुरी पगड़ी बाँध कर श्रीफल, शॉल तथा ५ हज़ार रुपयों की नक़द धनराशि प्रदान कर उन्हें गौरवान्वित किया। उल्लेख्य है कि डॉ. संगवे ने छत्रपति शाहू के २५०० दुर्लभ दस्तावेज़ों का ७ खण्डों में श्रम-शोध-साध्य संपादन किया है। पुरस्कार महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध विचारक श्री य.दि. फडके ने दिया।

कड़े नियमों के कारण जैन समाज का ह्रास हुआ

कलकत्ता। तेरापंथ समाज के आचार्य श्री नगराजजी डी.लिट् ने 'जनसत्ता' (हिन्दी दैनिक) के स्थानीय संपादक श्री श्यामसुन्दर आचार्य को एक साक्षात्कार (१६ फरवरी) में बताया, कि 'जैनधर्म का ह्रास उसके कठोर नियमों की वजह से हुआ है। यदि वर्तमान समय और युगचेतना के अनुरूप नियमों का पुनरवलोकन नहीं किया गया तो हम इस ह्रास को रोक नहीं पायेंगे।' उनका मानना है, कि 'जैनधर्म को विश्व-व्यापी बनाने के लिए साधु-संतों के हवाई-सफ़र, रेल-प्रवास तथा उनकी अन्य वाहनों से यात्राएँ, माइक-प्रयोग, तथा कुछ ऐसे ही अव्यावहारिक नियमों पर पुनर्विचार किया जाना चाहिये'।

'अनेकान्त ज्ञान मन्दिर' सम्मानित

बीना। श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट भावनगर ने 'अनेकान्त ज्ञान मन्दिर' (बीना) को प्राचीन पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण, संरक्षण, संकलन, सूचीकरण, तथा उनकी सुरक्षा के प्रति जागरूकता निर्मित करने के निमित्त पू. शशिभाई स्मृति जिनवाणी संरक्षण पुरस्कार-'९९ से सम्मानित किया है। पुरस्कार-स्वरूप मन्दिर के संस्थापक-संचालक ब्र. संदीप जैन सरल को ५१,००० रु. नक़द, शॉल, श्रीफल तथा प्रशस्ति-पत्र प्रदान किये जाएँगे।

'जैन बोधक' का 'महिला विशेषांक'

सोलापुर। जैन बोधक (मराठी-पाक्षिक) ने मार्च (१-१५) का अंक 'महिला विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया है। अंक सामग्री-समृद्ध, सुरुचिपूर्ण, प्रेरक, विचारोत्तेजक और संकलनीय है, अतः सहज ही आद्यन्त पठनीय है। संपादिका श्रीमती शरयू दफ्तरी का लघुलेख 'स्त्रियाँ हया शारीरिक दृष्टिने (बायोलॉजिकली) पुरुषा पेक्षा अधिक सुदृढ़ असतात असे डॉक्टरांचे मत आहे' विशेष पठनीय है।

भारत अब अमरीकी क़त्लख़ानों का कचरा मँगायेगा

नई दिल्ली (ती.स.)। **मांस-निर्यात का विरोध करने वालों के मुहँ पर यह एक क़रारा तमाचा है, कि वह भारत सरकार जिससे हम अहिंसा और करुणा को गौरवान्वित करने की आस लगाये हुए थे, हाल में हुए एक क़रार के अनुसार अब अमरीकी क़त्लख़ानों-का-कचरा (ओफाल) मँगायेगी और देश की मंडियों में उसका तथा उससे निर्मित उत्पादों का निःसंकोच विपणन करेगी। पता चला है, कि उक्त अनुबन्ध के अन्तर्गत १६० मांसाहारी पदार्थ (अण्डे, मछलियाँ, तज्जनित उत्पाद; मांस के टुकड़े**

इत्यादि) अब देश में बेरोक-टोक आ सकेंगे। साफ है; दमदार/लुभावने पैकिंग़ में 'मेड इन यूएसए' की मुहर वाले ये रंगीन डिब्बे हमारी संस्कृति पर जो कालिख पोतेंगे उसे सदियों तक धो पाना संभव नहीं होगा।

आचार्य श्रीआर्यनन्दीजी का समाधिमरण

परभणी (महाराष्ट्र)। ७ फरवरी को अतिशय क्षेत्र नवागढ़ उखलद में परम तपोधन आचार्य श्री आर्यनंदीजी महाराज (९३) का सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण हो गया। मराठवाड़ा संभाग के ढोरकीन ग्राम में २२ फरवरी १९०७ को जन्मे श्री आर्यनंदीजी महाराज (पूर्वनाम 'शंकर') ने १३

नवम्बर १९५९ को कुंथुलगिरि में आचार्य श्रीसमन्तभद्रजी महाराज से मुनि-दीक्षा ली थी। उन्होंने आत्मोन्नयन के साथ लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो कर धर्म और संस्कृति के सर्वांगीण विकास के लिए जो कार्य किया है उसे कभी भुलाया नहीं जा सकेगा। एलोरा-स्थित पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल के छात्रावास का नाम उनकी पुनीत स्मृति में अब 'आचार्य आर्यनंदी विद्यार्थी वसतिगृह' कर दिया गया है।

२१वीं शाकाहार गौरव-यात्रा महाराष्ट्र के लातूर-औरंगाबाद क्षेत्र में

इन्दौर। डॉ. नेमीचन्द जैन ने १४ से १८ अप्रैल तक महाराष्ट्र के औरंगाबाद-लातूर क्षेत्र में अपनी २१वीं शाकाहार गौरव-यात्रा संपन्न करने का निश्चय किया है। वे इन्दौर से १४ अप्रैल को प्रस्थान करेंगे और सेंधवा, धूलिया, चैतन्य वन, जलगाँव, चापड़ा, औरंगाबाद, बीड़, बारसी होते हुए लातूर पहुँचेंगे। शाकाहार के सकारात्मक पक्ष को प्रातिपादित करने के सिलसिले में डॉ. जैन अब तक लगभग ६२ हज़ार किलोमीटर की यात्रा कर चुके हैं। अपनी इस यात्रा में वे विभिन्न पड़ावों पर लोगों में 'शाकाहार की गुणवत्ता' पर चर्चा करेंगे, उन्हें स्लाइडें दिखायेंगे, प्रदर्शनियाँ लगायेंगे, और संबन्धित साहित्य का प्रचार करेंगे।

–कलकत्ता। १३ फरवरी को लीलाभूमि फाउंडेशन ने सर्वतोमुखी प्रतिभा के अप्रतिम धनी, भद्रता-की-प्रतिमूर्ति एवं कलकत्ता के जाने-पहचाने श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन पर प्रणीत कृति 'नैपथ्य नायक' (प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ; लेखक–मोहन किशोर दीवान) को लोकार्पित किया गया। समारोह की अध्यक्षता प्रो. कल्याणमल लोढ़ा ने की तथा 'जनसत्ता' के स्थानीय संपादक श्री श्याम सुन्दर आचार्य ने मुख्य वक्तव्य दिया।

–गुवाहटी। इतिहास में यह पहला अवसर है जब एक दिगम्बर मुनि पूर्वोत्तर भारत का मंगल विहार कर रहा है। आचार्य श्रीदयासागरजी महाराज ने १६ मार्च को बक्सीर हाट होते हुए असम में प्रवेश किया १३ मार्च को दिनहट्टा में उनका जन्म-दिवस हर्षोल्लासपूर्वक मनाया गया।

–नई दिल्ली। १६ जनवरी को 'चालीसवें मिलेनियम सामूहिक पूजन एवं स्नेह मिलन' में ५ वरिष्ठ जैन लेखिकाओं को 'जैन लेखिका रत्न' की उपाधि से अलंकृत किया गया। लेखिकाएँ हैं : डॉ. (श्रीमती) सुनीता जैन (१३ जुलाई '४१); श्रीमती कमला सिंघवी (१९३५); डॉ. (सुश्री) कमला जैन (१५ अक्टूबर १९३८); डॉ. (श्रीमती) संतोष गोयल (२० फरवरी '४१); तथा श्रीमती श्रीप्रभा जैन (२१फरवरी '४१)। आयोजन अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् के तत्त्वावधान में सफलतापूर्वक संपन्न हुआ।

–एत्मादपुर (उत्तर प्रदेश)। स्व. कवि श्री भगवत्स्वरूप 'भगवत्' के अनुज श्री वसन्त कुमार जैन का निधन हो गया। उन्होंने जीवन-भर मांसाहार/क़त्लख़ानों का डट कर विरोध किया था। उनका मांगीतुंगी सिद्धक्षेत्र से विशिष्ट लगाव था। ◻

(पृष्ठ १८ का शेष)

कायोत्सर्ग कर खड़े थे तथा वे उत्कृष्ट ध्यान-प्रतिमा में लीन थे। उनके तन-मन-प्राण अकम्प तथा स्थिर थे। उसी समय एक देव संगम उनकी अग्नि-परीक्षा लेने आ पहुँचा। एक ही रात्रि में उस देव ने श्रमण महावीर को इतनी यातनाएँ दीं; इतने प्राणघातक कष्ट दिये कि वज्र-हृदय भी दहल जाए, किन्तु परम योगी महावीर का एक रोम भी प्रकम्पित नहीं हुआ।

महावीर ध्यान की सर्वतोभद्र प्रतिमा में लीन थे। अचानक साँय-साँय की आवाज़ से दिशाएँ काँप उठीं। धूल-भरी भयंकर आँधी से महावीर के शरीर पर मिट्टी के ढेर जम गये; पर महावीर ने अपने निश्चय के अनुसार पलकें भी बंद नहीं की।

आँधी शान्त हुई कि तीक्ष्ण मुख वाली चींटियाँ चारों ओर से महावीर के शरीर को काटने लगीं। तन छलनी हो गया पर मन वज्र-सा दृढ़ रहा।

तभी मच्छरों का समूह महावीर के शरीर को काट-काट कर उनका रक्त चूसने लगा। फिर दीमकें महावीर के पूरे शरीर पर लिपट गयीं तथा भयंकर दंश मार कर काटने लगीं; तथापि महावीर विचलित नहीं हुए।

फिर बिच्छुओं द्वारा तीव्र दंश प्रहार किया जाना, नेवलों-द्वारा मांस नोचा जाना, विषधर सर्पों द्वारा स्थान-स्थान पर डंक मारा जाना तथा तीखे दाँत वाले चूहों द्वारा उनके शरीर को काटा जाना आदि प्रारम्भ हुए पर वे सर्वथा अकम्पित-अविचलित बने रहे।

इसी प्रकार के बीस घोर उपसर्ग महावीर पर आये, पर संकल्प के धनी महावीर अपनी स्थिति से, अपनी नासाग्र दृष्टि से तिल भर भी डिगे नहीं। आखिर दुष्ट संगम का अहंकार चूर हुआ और उसने महावीर से क्षमा माँगी। प्रातःकाल महावीर की ध्यान-साधना पूर्ण हुई और वे प्रसन्न-मन विहार को आगे बढ़े। (आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३९२)।

कानों में कील : साधना-काल के तेरहवें वर्ष में श्रमण महावीर छम्माणि गाँव के बाहर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े थे। उसी समय खेती में काम करता हुआ एक ग्वाला वहाँ अपने बैल ले कर आया। श्रमण को देख कर बोला– 'देव! जरा मेरे बैलों की देखभाल करना, मैं थोड़ी देर में आता हूँ। यह कह कर वह वहाँ से गाँव चला गया।'

थोड़ी देर में वह वापस आया तो उसे बैल नहीं मिले। वे चरते-चरते कहीं दूर निकल गये थे। उसने महावीर से पूछा– 'देव! मेरे बैल कहाँ गये?' महावीर तो मौन ध्यान में तल्लीन थे। उत्तर कहाँ से देते। इस पर वह ग्वाला आग-बबूला हो गया। उसने फिर पूछा– 'ऐ ढोंगी बाबा, तुझे कुछ सुनायी भी देता है या नहीं?' महावीर ने कोई उत्तर नहीं दिया। उसने कहा– 'अच्छा, मैं तेरे कानों की चिकित्सा करता हूँ'। आवेश में मूढ़ ग्वाला जंगल में गया और वहाँ से किसी वृक्ष की दो पैनी लकड़ियाँ लीं और महावीर के कानों में ठोक दीं। उन्हें असह्य मरणान्तिक वेदना हुई पर उन्होंने उफ् तक नहीं किया। वे महाश्रमण तब भी ध्यान से तनिक विचलित नहीं हुए।

कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर वे मध्यमा नगरी पधारे तथा सिद्धार्थ वणिक् के घर गोचरी ली। वणिक् ने उनके कानों में कीलों को देखा तो वह दुःख से काँप उठा। उसने तुरन्त खरक नामक वैद्य को बुलाया। उसने कानों से कीलें निकालीं। भगवान् को असह्य वेदना हुई। उनके मुख से एक भयंकर चीख निकल गयी। खरक ने कानों में औषधि एवं तेल का मर्दन किया, जिससे उनके घाव कुछ दिनों में भर गये। साधक जीवन की यह मानो अन्तिम वेदना थी, अन्तिम कड़ी थी जो अब समाप्त हो गयी। (त्रिषष्टि २०/४)। □

(पृष्ठ २ का शेष)

अहिंसा धर्म ही जैनधर्म है।

–भँवरलाल गोटी, चैन्नई

जीने और मरने की कला का उत्कृष्ट प्रतिपादन जैनधर्म है।

–केसरीचंद सेठिया, चैन्नई

देखो साहब, हम तो अनुकम्पा को ही जैनधर्म मानते हैं।

–चैनमल, चैन्नई

परमात्मा महावीर स्वामी की वाणी को जीवन में उतारना – उसे आचरण में लाना ही जैनधर्म है।

–मूलचन्द बोकड़िया, बेंगलौर

'सर्वजीवेषु मैत्री भावम्' – यही जैनधर्म है।

–साध्वी दिव्यसाधनाश्री, दक्षिण पावापुरी, राजकुळम् (तमिलनाडु)

जैनधर्म में तो बोई सोचूँ बावजी कि एक तो जो आपाँ धरम को करणों तो वा के वारे नी आवणो, बीजो साधु-संतां कणें जाऊँ तो थोड़ी अकल आवे – यो हमजूँ मैं तो।

–सौ. गौरीबाई, बैंगलूर

जो अपने को अपने में लीन कराये वही जैनधर्म है।

–साध्वी कान्ताश्री, दक्षिण पावापुरी, राजकुळम् (तमिलनाडू)

अपने आपमें रमण करना जैनधर्म है।

–भंवरलाल धोका, कांचीपुरम्

समता, समानता, और शाकाहार तीनों मिल कर जैनधर्म है।

–प्रकाश धोका, कांचीपुरम्

जीवदया-पालन तथा हिंसा न करना जैनधर्म है।

–सौ. सुशीला जैन, आर्कोट

जैनधर्म सहजता और निर्भीकता का प्रतीक है।

–रेकचन्द जैन, आर्कोट

जो मार्ग मोक्षमार्ग को प्रशस्त करता है, जो आत्मशुद्धि का साधन है – वह जैनधर्म है।

–दानमल सुराणा, वेलूर

जैन और माहेश्वर धर्म दोनों का एक ही मक़सद है – अहिंसा।

–आनन्द प्रकाश माहेश्वरी, चिंगलपेट

जैनधर्म/माहेश्वरी धर्म में अहिंसा, गोसेवा और दानधर्म यही ज़्यादा है।

–सौ. रत्नादेवी, चिंगलपेट

–क्रमशः

आर.एन.आई. २२२७२/७१ तीर्थंकर: मार्च २०००
आई.डी.सी./एम.पी./६२/२००० फाल्गुन-चैत्र; २०५६; वी.नि.सं. २५२६

पानी माहिं पतासा

देख्या बीच जहान के स्वपने का अजब तमाशा वे।
एकौंके घर मंगल गावैं पूगी मन की आसा।
एक वियोग भरे बहु रोवैं, भरि-भरि नैन निरासा।।१।।
तेज तुरंगनिपैं चढ़ि चलते पहरैं मलमल खासा।
रंक भये नागे अति डोलैं, ना कोइ देय दिलासा।।२।।
तरकैं राज-तखत पर बैठा, था खुशवक्त खुलासा।
ठीक दुपहरी मुद्दत आई, जंगल कीना वासा।।३।।
तन धन अथिर निहायत जगमें, पानी माहिं पतासा।
'भूधर' इनका गरब करैं जे फिट तिनका जनमासा।।४।।

मैंने देखा है कि संसार में स्वप्नों का अजीबोग़रीब तमाशा (मजमा) सजा हुआ है। गंभीर अन्तर्विरोध है घटनाओं के समूह में।

एक के घर मंगल गीत गाये जा रहे हैं; उसकी मन-की-आशाएँ पूरी हुई हैं; तो दूसरी ओर घर में लोग निराशा और वियोग में बिलख रहे हैं – व्यथित हैं।

जो कभी तेज़-तर्राट घोड़ों पर सवार घूमते थे और मलमल के बढ़िया राजसी परिधान पहनते थे; वे निर्धन हुए हैं, निर्वस्त्र (नग्न) भटक रहे हैं, उन्हें कोई सान्त्वना तक देने वाला नहीं है।

जो तड़के (सुबह) राजसिंहासन पर निश्चिन्त आसीन हुआ था; जिसका सितारा बुलन्द था, जो समृद्धियों की गोद में मदमस्त था – उसे ही भर दुपहरी में वनवास करना पड़ा। सच, तक़दीर का कुछ ठीक नहीं है, पता नहीं वह कब कौन-सी करवट ले ले?

शरीर, धन-दौलत, ठाठबाट सब क्षणभंगुर हैं – ठीक वैसे, जैसे पानी में बतासा। कवि 'भूधर' कहते हैं जो इन पर गर्व करते हैं, उनका जीवन धिक्कृत है, व्यर्थ और निरर्थक है।

[श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रचारित]